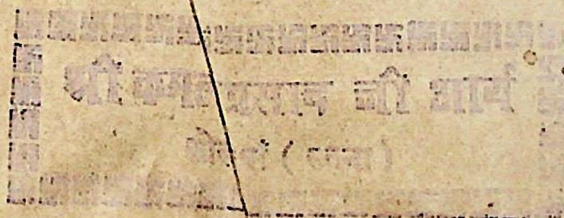
नव निर्माण की ओर

चन्द्र प्रकाशन,
अजमेर



नव निर्माण की ओर



: सम्पादक :
यज्ञदत्त उपाध्याय
विष्णु अम्बालाल जोशी





प्रकाशक :
चन्द्र प्रकाशन
कचहरी रोड़
अजमेर



वितरक
दत्त ब्रदर्स, अजमेर।

प्रकाशक :
चन्द्र प्रकाशन
अजमेर

मूल्य : १।।।) विद्यार्थी संस्करण
२) सजिल्द
२।) लाइब्रेरी संस्करण

मुद्रक—
अर्जुनसिंह बी० ए०
दी राजस्थान आर्ट प्रिंटर्स, अजमेर।



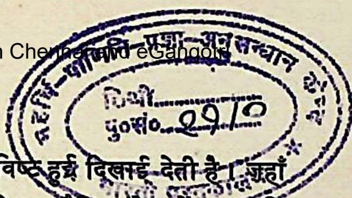
● अपनी बात

हमने स्वाधीनता प्राप्त की,—यह भी कहा जा सकता है वह हमको मिली। कुछ हमारा आग्रह था, तो कुछ समय का। अंग्रेजी शासकों ने दूरदर्शिता का परिचय दिया, काल-चक्र को पहिचाना और जल्द-से-जल्द स्वदेश लौटने के लिए उठ खड़े हुए। हमने ऐसा कभी न सोचा था, गो राष्ट्रपिता गांधी की बुलंद पुकार 'भारत छोड़ो!' के पीछे यही राज़ था कि यह सब इतना सहज व शीघ्र ही होगा। घटना-चक्र इतनी तेज़ी से घूमा कि जो हमारा स्वप्न था वह सत्य हुआ और उसके साथ-साथ ऐसा उलटफेर हुआ जिसकी भी कल्पना न की गई थी। इस हलचल में कई ऐतिहासिक भूलें हो गई, देश के नेतृत्व ने इन सबका बड़े साहस से सामना किया और तूफ़ानी हालत में भी सद्य: स्वाधीनता को अण्क्षुण बनाये रखा। ....और बाद में जब सारा लेखा-जोखा सामने आया, तो इस विशाल डौल को नीचे से ऊपर तक खोखला पाया। देश में धर्म के नाम से भेद-भाव तो थे ही; अंग्रेजों ने अपनी सत्ता बनाये रखने को सियासी, सामाजिक और आर्थिक ढाँचों में घने छेद कर दिये थे; वर्ग-संघर्ष का सांप फूत्कार उठा था, विशेष रूप से महा-युद्ध काल में इस विदेशी सरकार ने अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए समाज के कुछ तत्वों को जान-बूझ कर अमानुषिक—और यों अनैतिक बनाया था; और भोजन-वस्त्र के अभाव तथा मंहगाई के परिणाम-स्वरूप जन-जीवन ऐसा विलोड़ित हुआ कि वह अनेक दुर्बलताओं का आगार बन गया था। ऐसे ही समय देश ने आज़ादी पाई। विदेशी शासक शासित देश को धन-धान्य-सम्पन्न छोड़ेंगे ऐसी आशा तो थी नहीं; पर जिस आचरण-हीनता को लिए हमने प्रथम बार स्वतंत्रता-देवी की वंदना की, वह उस ज्योति में ऐसे भयंकर रूप में प्रकट हुई कि आस्थावान भी विचलित हो उठे। साथ

हीं, उसी पर्व पर देश के विभाजन की रेखा खींची गई और हिन्दू-मुस्लिम जातियाँ अपनी युग-युग की संस्कृति, सभ्यता, एकता, मैत्री व सहचर्य की संचित पूंजी को कूटनीति की क्षुद्रता व उन्माद में अपने ही हाथों वर-वाद करने में लगीं। रक्त की धारा से धरा लाल हो उठी और इस पाशविकता ने हमें इतना अंध व अकृतज्ञ बना डाला कि हमारा हाथ राष्ट्र-पिता के शरीर को छेद गया। हमारा वह उन्माद उन गोलियों के दागों में से उठी 'हे राम!' की अमर-वाणी के सामने सिर धुनने लगा। जो होना था हुआ। ऐसी विकट स्थिति थी और आज जब कि हम अपनी दुर्वलता के वावजूद भी अपने राष्ट्र के पुनः निर्माण की ओर कदम उठाना चाहते हैं, तो जो हमारे राष्ट्र के असाध्य-से रोग हैं उन्हें, रुककर, समझ लेना आवश्यक है। ऐसे ही रोगों के स्वरूप, उनके निदान और उनके उप-चार संबंध में हमारे देश के प्रमुख लोग क्या विचार रखते हैं, इस पुस्तक में संकलित लेखों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

इस समय जैसी-तैसी भी नीति देश-कार्य को चलाने और उसको पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करने हेतु अपनाई जा रही है, उसके लिए 'काम-चलाऊ' का विश्लेषण हम दें, यही उपयुक्त है। स्वाधीनता की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय कसमकस में अपनी स्वतंत्र स्थिति की प्रतिष्ठा, भारत-पाक भेदों की कटुता, बड़े पैमाने पर बेकारी व दरिद्रता, अशिक्षा, असमानता, ग्राम क्षेत्र की अवहेला, देश-प्रेम का सामान्यतः शैथिल्य और लोकतंत्री व्यवस्था में नागरिक का कर्तव्य व उत्तरदायित्व संबंधी मति-भ्रम—इन सब समस्याओं को दूर करने का संकल्प तो देश को सत्तारूढ़ राजनैतिक-दल ने बारबार दुहराया है, पर किन मूल आधारों पर यह संकल्प सिद्ध होता है उसके बारे में बड़ी ऊहापोह बनी हुई है।

विश्व के रंगमंच पर इस समय सामान्यतः समाज-रचना के दो प्रमुख प्रकार हैं। हम न केवल राजनैतिक दृष्टि से अपनी तटस्थ स्थिति बनाने में लगे हैं, पर साथ ही, यही मिश्रित मनोवृत्ति



जैसे अनायास ही समाज-निर्माण में भी प्रविष्ट हुई दिखाई देती है। जहाँ देश में ऐसे विचारवान व्यक्ति भी हैं कि जो राजनैतिक क्षेत्र में इस नीति के कटु आलोचक हैं, वहाँ आर्थिक स्तर पर यह मिश्रित नीति काफ़ी विवाद का विषय रहे, तो कोई आश्चर्य नहीं। वर्तमान नेतृत्व ने इन्हीं सबके बीच इस मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के आधार पर पंचवर्षीय-योजना भी बनाई है और देश को सुसम्पन्न बनाने के हेतु इस ओर पूरे बल से प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है। इस योजना में एक ओर बापू तथा उनके साथियों का आशीर्वाद है तो दूसरी ओर समाजवाद का प्रभाव, और इन सबके पीछे आधार-रूप वही सनातन (पर अब जर्जरित) पूंजीवाद है। अतः पंचवर्षीय-योजना में कई गांठें हैं। बहुत भव्य व विशद रूप में प्रस्तुत की गई यह योजना साधारण जनता में एक अभीप्सित विश्वास अनुप्राणित नहीं कर सकी है।

हमारा लोक-तंत्रीय विधान है। लोकेच्छा से देश का शासन चलेगा, यह हमने स्वीकार किया है। लोकेच्छा सुख-शान्ति चाहती है, विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता और समान अवसर चाहती है—ये आकांक्षाएँ सर्वव्यापी है। ये जन-आकांक्षाएँ फलवती हों, ऐसा सब चाहते हैं, इससे किसी का विरोध नहीं है। आज हमारे सामने वस्तुतः यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न है, ये सद्-इच्छायें कैसे पूर्ण हों? किस नीति का आधार इनके लिए, हमारे देश के लिए और विश्व-कल्याण के लिए अभीष्ट होगा? भारत की लोकात्मा को कौन सा आधार विशेष अनुकूल होगा? उसकी लोकात्मा के क्या मूल हैं? उनको लेकर वह किस राह संचरित होगी? क्या वह राह केवल भारत के लिए ही इष्ट होगी? क्या उस चरण की उपलब्धि से विश्व भी कुछ पा सकेगा? —ये प्रभृति प्रश्न हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखों में इन प्रश्नों का अधिकार-पूर्ण उत्तर संयोजित किया गया है। यह केवल शास्त्रीय उत्तर नहीं है। वह भारत की आत्मा की वाणी है। वह बापू में मुखर हुई थी, और आज वह संत विनोबा में

मुखर हो जाना चाह रही है। बापू के निर्देशित मार्ग पर इस संत का गत २।। वर्ष से भगीरथ परीक्षण चल रहा है। भारत की लोकात्मा का साक्षात्कार हो रहा है और जीवन की समस्याओं के हल में उनका अद्भुत चमत्कार दृष्टिगत हो रहा है।

ऐसे समय में कि जब विचार अवाध गति से संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाते हैं, हम उनको रोक नहीं सकते—उनके प्रभाव से मुक्त भी नहीं रह सकते। इस प्रकार भारत की लोकात्मा यदि आज मुखरित हो उठती है तो इसमें न केवल हमारे देश का कल्याण निहित है, अपितु विश्व-कल्याण की आशा छिपी है। देश के नवयुवक इस परीक्षण को सफल बनाने में योग दान देंगे, यह हमारा विश्वास है। युवक-समाज को इन लेखों के स्वाध्याय से ऐसी प्रेरणा ही मिलेगी।

अन्त में,—वैसे हमारे लिये तो यह पहली तथा प्रमुख बात है—जिन धीमान लेखकों की रचनाओं को इस संग्रह में सङ्कलित किया है हम उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

आश्विनी कृष्ण १, २०११
भूदान-यज्ञ-कार्यालय
अजमेर।

यज्ञदत्त उपाध्याय
विष्णु अम्बालाल जोशी

विषय-सूची

[१]

: स्वतन्त्रता-पर्व :



: स्वतन्त्रता के बाद :

पाँच वर्ष बीते भारत स्वतन्त्र हो गया। १५ अगस्त, ४७ तक इस 'स्वतन्त्र' शब्द की बड़ी महिमा थी। पीछे वह महिमा कम होती गई। अब ऐसा मालूम होता है कि उस शब्द की जाँच-पड़ताल में जाना जरूरी है। भारत स्वतन्त्र हुआ तो, मगर वह नहीं हुआ जो हम सोचते थे। स्वतन्त्रता उसकी साबित की जा सकती है, पर उससे सुख बढ़ गया है, खुशहाली बढ़ गई है, ऐसा देखने में नहीं आता। आशा क्या हम ऐसी न करते थे? वह आशा स्वतन्त्रता से पूरी नहीं हुई तो जैसे वह शब्द ही हमारे लिए महिमा खोता जा रहा है।

देश स्वतन्त्र हो रहा है। औपनिवेशिक साम्राज्य सिमटता और मिटता जा रहा है। स्वतन्त्र होने की बड़ी हौस पराधीन देशों में रहती है। उसके लिए देशवासी भारी बलिदान से नहीं बचते। आखिर वह स्वतन्त्र होते हैं। पर इस स्वतन्त्रता पर आकर क्या मंजिल आ गई उन्हें मालूम होती है? नहीं, वैसा नहीं दीखता। समस्याओं का रूप बदलता है, जटिलता या विकटता उनकी कम नहीं होती।

राजनैतिक अर्थ में स्वतन्त्रता क्या है? यही कि राष्ट्र अपने-आप में एक इकाई है, वह सम्पूर्ण है, वह अपनी हुकूमत अपने ढंग की बना और चला सकता है। अपनी विदेश-नीति, अर्थ-नीति, व्यवसाय-नीति रख सकता है। 'सौवरिन्टी ऑफ दि नेशनल स्टेट', यानी राष्ट्र-राज्य अपने ही प्रति दायी है, बाहर के प्रति नहीं। राजनैतिक स्वतन्त्रता का आज यथार्थ यही है।

अब राष्ट्र अपने में क्या है ? कुछ भौगोलिक और ऐतिहासिक घटनाओं का परिणाम है। वह अन्तिम वस्तु नहीं है। सन् ४७ से पहले पाकिस्तान था ही नहीं; अब वह एक राष्ट्र है। भारत जो पहले था, अब वही नहीं है। एक खण्ड कटकर पाकिस्तान बन गया और बाकी बचा हिन्दुस्तान रह गया है। ऐसे राष्ट्र बनते-बिगड़ते और घटते-बढ़ते रहते हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता इन राष्ट्रों और इनके राज्यों को अन्तिमता देकर चलना चाहती है। इस तरह वह एक कृत्रिम-सी चीज बनी रहती है। चीज़ यों बड़ी अच्छी है और उससे एक कामचलाऊ सन्तुलन बना रहता है। पर कहीं से जोर उठा कि वह सन्तुलन को बिगाड़ देता है और फिर नक्शा नया बनता है। इसलिए राजनीति जोर और ताक़त का नाम है, और राजनैतिक स्वतन्त्रता भी जोर और ताक़त के बूते पर बनाई और थामी जाती है।

राजनैतिक स्वतन्त्रता का इस तरह हम भारत-देशवासियों के लिए मतलब है कि भारत की भौगोलिक सीमाओं के समुद्री भाग पर हम सशस्त्र बेड़ा रखेंगे, और खुशकी हद पर हथियारबन्द फौजें रखेंगे कि जिनसे भारत की स्वतन्त्रता स्वतन्त्र रहे और उसे खटका और खतरा न रहे।

भीतर की ओर से इस राजनैतिक स्वतन्त्रता का यह मतलब है कि राज्य का शासक-वर्ग राष्ट्र के वासियों को ऐसे रखेगा कि राज्य को यानी राज्य चलाने वाले वर्ग को कम-से-कम खटका और खतरा हो।

इन दो मर्यादाओं के बीच हर राजनैतिक स्वतन्त्रता रहने को बाध्य है। इसी कारण जब तक वह दूर रहती है लोभनीय जान पड़ती है। प्रत्यक्ष भोग में आ जाने पर वह फिर उतनी अन्तिम और स्पृहणीय नहीं रहती।

मुझे प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता का आदर्श पिछड़ा जा रहा है। वह अब काफ़ी नहीं लगता, हमारी मांग से काफ़ी अधूरा और ओछा दीखने लगा है। साम्यवाद और समाजवाद जैसे शब्दों में ताक़त होने की यही वजह है। जैसे स्वतन्त्रता काफ़ी नहीं है, समता भी चाहिए। और समता

सिर्फ़ कागज़ी और कानूनी नहीं, सामाजिक चाहिए। स्वतन्त्रता में विकास की आवश्यकता जान पड़ती है और हम कोरी स्वतन्त्रता पर न रुककर सच्ची स्वतन्त्रता को जानना और पाना चाहते हैं।

स्वतन्त्रता को ज़रा हम स्वतन्त्र रूप से समझने की तो कोशिश करें, तब मालूम होगा कि वह जंगल में तो हो सकती है, समाज में नहीं हो सकती। जंगल में स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं। हर आज़ाद है कि हर किसी को मार खाए। शायद यह आज़ादी आदमी बनना स्वीकार करने के साथ ही आदमी ने खो दी। इस तरह की जानवर वाली आज़ादी जितने ही अंश में आदमी अपने पास से जान-बूझकर खोता जायगा उतने ही अंश में शायद असली, सच्ची और इन्सानी आज़ादी उसके पास आती जायगी।

पर राजनैतिक स्वतन्त्रता इस बात को नहीं मानती। इसको शायद वह आदर्शवाद मानती है। ज़ोर और ताक़त नाम की चीज़ पर से घर में भरोसा हटाने को यह तैयार नहीं। शेर आज़ाद है कि खरगोश को अपना निवाला बना ले, खरगोश रहे अपने भिट में छिपकर। पर शेर की आज़ादी बड़ी है और उसके तले डरते हुए किसी समय भी खाए जाने को तैयार होकर उसे रहना होगा। भिट में खरगोश जीता रहे उसकी उसे स्वतन्त्रता है। इसी तरह शेर का खाद्य बनने में मरने की भी उसे स्वतन्त्रता है। प्रचलित राजनैतिक स्वतन्त्रता इससे भिन्न नहीं है। बड़ी फ़ौज़ छोटी फ़ौज वाले देश को उस थोड़ी और छोटी फ़ौज को नेस्तनाबूद करके बड़ी आज़ादी दे सकती है। और यह हो रहा है। फ़ौजें जो रखी जा रही हैं, बढ़ाई जा रही हैं, सच जानिए वे आज़ादी को रखने और बढ़ाने के लिए हैं। एक छोटा देश कैसे अपनी स्वतन्त्रता रख पाएगा? इसलिए बड़ा उसे भय से, कूटनीति से, या हल्ले और युद्ध से अपने साथ ले लेगा। ऐसे आज़ादी छोटी से बड़ी होती जा रही है। वह देशों में नहीं, देशों के गुटों में होती है। इस प्रकार हम अपनी स्वतन्त्रताओं में बढ़ते और फैलते जा रहे हैं। यह राजनैतिक स्वतन्त्रता है, जो व्यक्ति-जैसी छोटी इकाई की नहीं, राज्य और महाराज्य जैसी बड़ी इकाइयों की है।

जान पड़ता है मानव-जाति के विकास का इतिहास इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच में ले चला है। क्या वह ग्रेट ब्रिटेन की स्वतन्त्रता का गौरव-युग न था, जब भारत देश पर उसने राज्य का झण्डा गाड़ा? भारत परतन्त्र चाहे उससे हुआ हो, लेकिन अंग्रेजी भाल पर क्या स्वतन्त्रता का ताज अधिक ही नहीं चमका? तो दूसरों को आधीन करके अपने को स्वाधीन करने, दूसरों की परतन्त्रता के ऊपर बैठकर अपने को स्वतंत्र और दूसरे को नीचा रखकर अपने को ऊंचा बताने की यह प्रवृत्ति आदिम-काल से थी; आगे भी रहेगी। राज-नीति मुख्यता से इसी प्रवृत्ति में बनती है। वह स्वतन्त्र स्टेट को चाहती है। यहाँ तक कि उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र चाहती है। आदमी को स्वतन्त्र रूप में नहीं, स्टेट के अंग-रूप में देखती है। स्टेट से जो स्वतन्त्र है वह रहे ही क्यों, वह अनावश्यक है, अनुचित है, अनिष्ट है। उसका होना स्वतन्त्रता के प्रति द्रोह है। इससे स्वतन्त्रता की रक्षा में ऐसे निपट स्वतन्त्र आदमी को सौ फीसदी परतन्त्र बनाकर यानी जेल में गुलाम बनाकर रखना भी स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा ही करना है। राजाओं और हाकीमों की स्वतंन्त्रता को अक्षुण्ण और व्याप्त बनाए रखने के लिए अगर सैंकड़ों हजारों को दास और दासी बनकर रहना हुआ तो इसमें गलत क्या था? यह समूह की, समाज की, राज्य की स्वतन्त्रता थी, और उसके नीचे केवल एक-एक करके गिने जाने वाले स्त्री और पुरुषों की परतन्त्रता थी। एक समूहवाद, दलवाद, और स्टेटवाद चल रहा है, जो स्वतन्त्रता को किसी बड़े पैमाने पर देखने का आग्रह रखता है। व्यक्ति-विचार पर वह रुक नहीं सकता। व्यक्ति तुच्छ है, छोटा है, उसकी हस्ती नहीं है। समूह में खो और मिट जाना उसकी सार्थकता है।

मेरा मानना है कि जाने-अनजाने कोरा राजनैतिक विचार हमें उसी ओर लिए जा रहा है। राजनैतिक स्वतन्त्रता यदि सामाजिक और वैयक्तिक भी बनने की ओर नहीं बढ़ेगी तो उसमें से यही फल उत्पन्न होगा; यानी अधिनायक का वाद और उसी का तन्त्र। स्टेट की सुविधा यदि प्रथम है और अन्तिम है, स्टेट से ऊँचा यदि कोई देवता नहीं, मान और

मूल्य यदि उसी की अपेक्षा में स्थिर होते हैं और वहीं से नियोजित होते हैं, तो गति दूसरी नहीं है।

मानना होगा कि दुनिया के देशों का रंग-ढंग कुछ ऐसा ही दीखता है। व्यक्ति दोयम हैं, राज्य प्रथम। व्यक्तियों से प्रजा बनती है और वह गौण हैं। दलों से राज्य बनते हैं वह प्रमुख हैं। यह राज-नीति है।

किन्तु राज के विशेषण के बिना भी एक नीति होती है। संगठित काम-काज उससे उतने न चलते हों, आदमी उसी से चलते हैं। वह शक्ति को नगण्य नहीं मानती। वह उसके मन को हिसाब में लेती है। वह मन को जीतना चाहती और उससे सहयोग और मेल निकालना चाहती है। यह सत्ता नहीं सज्जनता को महत्व देती है। वह गुटों में स्पर्द्धा नहीं उनमें अच्छा देखने की कोशिश करती है। उसके पास व्यक्ति अन्तिम कसौटी है और उसके सुख-दुख से निरपेक्ष होकर चलना वह जानती नहीं।

दूसरी प्रवृत्ति है नैतिक प्रवृत्ति। यह भी जब से आदमी बना उसके साथ रही है। किसी तरह यह उसमें से नष्ट नहीं की जा सकती। आदमी कोशिश करके भी पूरी तरह जानवर नहीं बन सकता। दानव वह बन सकता है। क्योंकि वह जानवर से अधिक होता है। वह शक्ति हमारे पास है कि अपनी ही नैतिकता के अविश्वास में मानों अपने ही साथ प्रतिरोध और हठ ठानकर हम प्रतिक्रिया में एक ओर बढ़ते चले जायें; अपना ध्यान रखें, अपने जैसे इन्सानों का ध्यान न रखें और अपनी दिमागियत के दिमागी और हवाई सपनों के फेर में फँसकर अपना ही इन्कार और अतिक्रमण कर जाएँ। ऐसे हिंसा पर उतारू हों और उसमें पुण्य मानें; और अन्य अनेक की सम्भावनाओं को कुचलें और उसमें उन्नति मानें; लड़ें और उसमें न्याय मानें; व्यापक नर-संहार करें और उसमें भविष्य की सेवा मानें। यह बड़ी आसानी से हो सकता है। अपने आत्मा को और सबके परमात्मा को भूलकर अपनी ही किसी धारणा को हम देवता बना बैठते हैं। तो उसकी पूजा-अर्चा में यह सब प्रतिक्रियात्मक व्यापार बड़े

समारोह के साथ हम चलाये चले जा सकते हैं। यह नया देवता स्टेट जिसको इधर देवाधिदेव बना लिया गया है, कुछ इसी तरह हमें, अपने को और दूसरों को भुलाने में सहायक बन रहा है।

पर राजनीति के सामने अब भी खुला अवसर है। जब तक भारत शेष है और उसकी परम्परा अवशिष्ट है, तब तक अवसर भी शेष मानिए। भारत की भूमि ने दुनिया के लिए गांधी सिरजा था। अब भी उस भूमि में वह धर्म-प्रेरक आस्था के रूप में जीवित है, जो और जगह निष्प्राण हो चुका है। यहां लोग अपनी रामधुन गाते हैं और अपनी मेहनत में से उगाते और बनाते चले जाते हैं। वह खुशहालों की खुशहाली देखते हैं, लेकिन ईर्ष्या में अपना काम बन्द नहीं कर पाते। इसी प्रकट मूढ़ता में से यह भारतवर्ष सहस्राब्दियों से जीता-जागता जला आया है। उसके महापुरुष महाकाव्य नहीं, महा-आत्मा हुए हैं। उन्होंने जमाया-जुटाया नहीं हैं, वे अपने को देते और लुटाते ही रहे हैं। उन्होंने शक्ति नहीं चाही, प्रीति ही साधी है। इसलिए यह देश जब तक मौजूद और इसकी पुरानी साँस बाकी है तब तक राज-नीति के लिए भी एक अवसर है।

विश्व की राजनीति के आगे प्रश्न है कि वह राज्य को प्रधान रखेगी कि नीति को। राज-प्रमुख राज-नीति तो चल ही रही है। और उसका परिणाम भी उजागर है। क्या नीति-प्रधान भी कभी वह बनना आवश्यक और सम्भव समझेगी? राज-नीति ऐसी जब बनेगी तब जान पड़ेगा कि केन्द्र गुट से और पद से हटकर व्यक्ति में और उसके श्रम में चला आया है। तब धनी वही होगा जो श्रमी है और सत्ता का स्वत्व उसके पास होगा जो जो निःस्व है। गांधी से उस प्रकार की राज-नीति के चलने की सम्भावना हो आई थी। उस सम्भावना को एकदम असम्भव मानते भी नहीं बनता है। स्पष्ट ही है कि मूलनीति में से चलकर अर्थ-नीति और राज-नीति स्वतन्त्रता को सीमित और केन्द्रीय करने वाली नहीं बनेगी; बल्कि उसको बिखराकर हर एक के अपने-अपने पास ले आने में सहायक होगी। तब

स्वतन्त्र भाव से प्रत्येक श्रमिक होगा और प्रीति भाव से वह परस्पर सहयोगी होगा। एक की विफलता में से दूसरे की सफलता नहीं निकलेगी, बल्कि एक के उदय में से दूसरे को अभ्युदय प्राप्त होगा।

मौका है कि राज-नीति वह मोड़ ले। पर लेगी?

—श्री जैनेन्द्र कुमार

: हमारी जिम्मेदारी :

दो-तीन प्रकार के काम अभी हमें करने हैं और इन कामों के लिए जो साधन हमें उपयोग में लाने हैं, वे काम के विचार से भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। एक चीज तो यह विचारणीय है कि हम जनसाधारण में पूज्य बापू की विचारधारा का प्रचार किस तरह से करें और लोगों को कैसे प्रभावित करें? हमारा यह काम तबतक पूरा न होगा जबतक उस तरह का समाज, जैसा कि महात्मा गांधी स्थापित करना चाहते थे, हम स्थापित न कर लें। हमारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी हमें वैसा ही समाज कायम कराना है। यह काम बहुत कठिन है और गांधीजी ने अपने देश के लिए कुछ रास्ता खोला था, पर संसार के सामने इसका कोई रूप प्रकाशित नहीं किया था। वे हमेशा सोचते थे व उनका खयाल था कि जब हम अपने देश में इन बातों को पूरा करने में सफल हो जावेंगे तभी दूसरों को बता सकेंगे और तभी हम उनसे इस तरह की आशा रख सकेंगे कि वे हमारा अनुकरण करें। कहीं विदेश में जाना नहीं चाहते थे; क्योंकि वे कहते थे कि हमारा संदेश बाहर के लोग तभी सुनेंगे जब देख लेंगे कि हमारे देश के लोगों ने इस पर चल कर कुछ काम कर लिया है। यदि वैसा समाज हम स्थापित करना चाहते हैं तो पहले हम विचार-धारा को ज्यादा से ज्यादा देश के लोगों तक पहुंचावें। इसलिए हमें एक ऐसा समाज स्थापित करना है, जिसमें सब लोग शरीक हो सकें और उससे परिचित हो जायें। हम यह भी चाहते हैं कि इस तरह प्रति-वर्ष सम्मेलन किये जावें और हम परस्पर मिलकर एक-दूसरे के विचारों को समझें, क्योंकि ऐसे लोग अधिक हैं और

वे सारे देश में फैले हुए हैं जो इस विचारधारा से परिचित हैं। इनमें से कुछ उनके अनुसार अपने जीवन को ढालने की कोशिश भी कर रहे हैं। वे सब चाहते हैं कि हम इकट्ठे हों, एक-दूसरे से मिलें, नई-नई प्रेरणाएं लें, उत्साह बढ़ावें।

हमें यह भी देखना है कि जो संस्थाएं आज तक महात्मा गांधी की प्रेरणा से इस देश के अन्दर स्थान-स्थान पर कायम हुई हैं, जिन्हें उन्होंने केन्द्रीय संस्थाओं के रूप में सेवाग्राम में स्थापित किया, उन्हें आगे किस तरह बढ़ाया जावे।

यह एक तीसरा काम हमारे सामने है।

सबसे बड़ी बात यह है कि हमारे देश के अन्दर आज हमको यह देखना है कि जो सिद्धान्त, जो मौलिक तत्व, जो बातें गांधीजी बता गये, उनको आज हम आपस के वर्ताव में, एक दूसरे के साथ, राजनतिक क्षेत्र में, समाज में या और दूसरी अवस्थाओं में कहां तक काम में ला रहे हैं। यह दुःख की बात है और हमें मानना पड़ेगा कि आज ही नहीं, गांधीजी के जीवनकाल में ही कुछ ऐसे चिह्न देखने में आए, जिनसे मालूम हुआ कि हम केवल उनकी शिक्षा को ही नहीं, एक-दूसरे के साथ साधारण बर्ताव, मनुष्योचित रवैये को भी, जो समाज में चलता है, भूल गये हैं। उस वक्त महात्माजी जीवित थे और जब उन्होंने हमको इतने जोरों से पिछड़ते और गिरते देखा तो उन्होंने अपनी जान की बाजी लगाकर हमें बचाना और गिरने से रोकना चाहा। इसी बीच उनके प्राण गये। उनके प्रयत्न का इतना फल हुआ कि हम जो बड़ी तेजी से गिर रहे थे वह गिरना रुक गया और बहुत कुछ परिवर्त्तन आ गया; पर कई चीजों में देश के अन्दर जैसी जागृति उन्होंने पैदा की और जिस तरह से उसे ऊपर उठाया, आज उस स्थान पर हम नहीं हैं। बहुत-सी बातों में हम नीचे उतर आये हैं। हमारा आज का कर्त्तव्य हो गया है कि हमें जो उन्होंने सिखाया और बताया उसे किस प्रकार एक मर्तबा ग्रहण कर सकते हैं? इस पर मनन करें।

सभी जानते हैं कि महात्माजी ने सारे देश को नैतिक तरीके से वहुत ऊंचा उठाया था। जिस समय वे इस देश में दक्षिण-अफ्रिका से लौटकर आये श्रौर राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने काम आरम्भ किया, उस समय जो हमारे आचार-विचार थे, राजनीति को जिस तरह से हम देखते थे, उसमें उन्होंने काफ़ी श्रंतर कर दिया श्रौर जो वड़ी चीजें उन्होंने दिखाई वे ये थीं कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में, जीवन के हर पहलू में, चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, सचाई को ही आधार मानकर हमें काम करना चाहिए; उद्देश्य चाहे जितना वड़ा हो, पर उसके साधन अगर गलत हों तो फिर उद्देश्य की सिद्धि ठीक नहीं होगी श्रौर इसलिए सत्य श्रौर अहिंसा का रास्ता ही एक रास्ता है जो उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो सकता है।

ब्रिटिश के साथ हम जव तक लड़े, कुछ हद तक इस रास्ते पर चले, वहुत दूर तो नहीं गये, पर हमारा रुख उस तरफ था। हम इस चीज़ को मानते थे; चलने में गाफ़िल हो जाते थे, पर रुख ठीक उस तरफ था। मगर आज वह विलकुल उलटी श्रोर नहीं है तो कुछ मुड़ जरूर गया है। नतीजा यह है कि चारों श्रोर से आवाज़ें सुनने में आती है कि देश में चोर-वाजारी चल रही हैं, रिश्वतखोरी चल रही है, धांधली चल रही है । हम एक-दूसरे को दोषी ठहराते हैं। जो गवर्मेन्ट के वाहर हैं वे सरकार को दोषी ठहराते हैं, श्रौर जो सरकार में हैं वे वाहर वालों को दोषी ठहराते हैं।

'सर्वोदय-समाज' के लिए एक वड़ा प्रश्न यह है कि क्या वह कुछ ऐसा कर सकता है जो मुड़ते हुए रुख को सीधे रास्ते पर लगा दे? यह एक वड़ा प्रश्न भारत के सामने है। चूंकि महात्माजी के बनाये हुये रास्ते पर चलने का हमारा प्रयत्न रहता है, इसलिये हमारे ऊपर यह खास जिम्मे-दारी आ जाती है कि अपने को तो इस रास्ते पर चलाना ही है; पर देश को भी इस रास्ते पर लाने का प्रयत्न करें। दूसरे के दोष तो हर कोई निकाल लेता है; पर अपना काम तो यह है कि अपने दोष को अधिक देखें श्रौर इस पर से अगर मुमकिन हो कोई नया रास्ता निकालें, जिससे जो बुराई देखने में आ रही है उसे दूर कर सकें।

आज पश्चिम से कुछ वाद आ रहे हैं जिनका मानना है कि जो वे ठीक समझते हैं वह दूसरों पर लाद दें और उन बातों को दूसरों से करवावें, चाहे उन बातों को दूसरे मानें अथवा न मानें और समाज का संगठन ऐसा कर दिया जाय कि समाज का हर व्यक्ति उनके बताये हुए मार्ग पर चलने के लिए मजबूर हो जाय। महात्मा गांधी हमेशा यह सिखाते रहे और समझाते रहे कि व्यक्ति यदि अपने को ठीक कर ले, सुधार ले तो समाज भी सुधर सकता है। हिंसा और अहिंसा की बात इसमें आ जाती है। जबरदस्ती किसी बात को दूसरे पर लादना हिंसा और जो स्वेच्छा से मानी जाय, वह अहिंसा होती है। हमको आज यह सोचना है कि जो अहिंसात्मक समाज महात्माजी इस देश में स्थापित करना चाहते थे, उसके लिए हमारे पास क्या साधन है? वह है समाज के अन्दर के व्यक्तियों को सुधारना और जब प्रत्येक व्यक्ति सुधर जायगा तो समाज अपने आप ही सुधर जायगा। इस बात को वह इतने व्यापक रूप से तो नहीं फैला सके, जितना कि चाहते थे, मगर उस पर चलने का मार्ग अवश्य बता गये और अब उस अधूरी बात को हमें पूरा करना है। यह अभिमान की बात नहीं है, क्योंकि दूसरों पर हमें कुछ लादना नहीं है, पर अपनी दशा को सुधारना है। जब हम इस योग्य हैं कि दूसरे को सुधार सकें तो हो सकता है कि दूसरे भी हमारी बातों से प्रभावित हों। ऐसा हुआ तो यह ऐसी चीज बनेगी, जो हमेशा क़ायम रहेगी।

'सर्वोदय-समाज' का यह काम है कि जो उसके सिद्धान्त पर चलने वाला है,अपना जीवन ऐसा बनावे कि जो समाज हम स्थापित करना चाहते हैं वह हर मनुष्य अपने इर्द-गिर्द बना ले। इस तरह सारे देश में एक बड़ा समाज पैदा हो जायगा। कार्य-क्रम महात्माजी ने दे दिया है। इसके द्वारा हमें लोगों को तैयार करना चाहिए। हम समझकर देखें और ध्यानपूर्वक काम करें तो हम बहुत हद तक आगे बढ़ेंगे।

पिछले वर्ष जब यह सम्मेलन हुआ था तो उसमें इसकी चर्चा की गई थी कि जो प्रवृत्तियां चल रही हैं, उनका एकीकरण किया जाय और 'सर्व-

सेवा-संघ' बने। उसका नतीजा यह होगा कि सब संस्थाएं दृढ़ता से अपना-अपना काम कर सकेंगी। हमारा फर्ज है कि संस्थाओं को मजबूत बनावें और ऐसे सिद्धान्तों पर चलें कि जिससे समाज व देश को पूरी-पूरी सेवा मिल सके। हमें सोचना चाहिए कि यदि हर व्यक्ति अलग-अलग डफली लेकर बजाने लगे तो उससे कोई राग नहीं, बल्कि शोर-गुल निकलेगा। इसी तरह अगर संस्थाएं अलग-अलग काम करने लगें, मिलकर न चलें तो नतीजा अच्छा न होगा। सब तार इस तरह से बजें कि एक मधुर संगीत सुनाई दे। सभी संस्थाएं मिलकर एक सुन्दर संगीत गावें। अलग-अलग शोर-गुल न मचावें। इन दोनों चीजों पर विचार करके आप निश्चय करलें कि आगे हमें किस तरह से काम करना चाहिए।

अपने देश में ही नहीं, बल्कि विदेश के लोगों में भी काफ़ी दिलचस्पी पैदा करनी होगी। महात्माजी जो कुछ कह गये हैं, लिख गये हैं, वह सारे संसार के लिये है। उसका प्रचार भी बाहर बहुत कुछ हो सकता है। विदेशी लोग यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि भारत के लोग क्या कर रहे हैं। वहां की परिस्थिति कुछ ऐसी है कि वहां के लोग अधिक उत्सुक हो गये हैं। अभी तीस वर्ष के अन्दर उन्हें दो बड़ी लड़ाइयां देखनी पड़ी जिनमें हत्याएं हुई। उसके अलावा मनुष्य का चारित्रिक पतन देखा गया। और लड़ाई के बाद भी शान्ति के चिह्न नहीं दिखाई पड़े, बल्कि अब फिर तीसरी लड़ाई की तैयारी देख रहे हैं।

इस देश में सत्य और अहिंसा की बातों पर महात्माजी ने इतना जोर दिया, नैतिकता को इतना ऊंचा उठाया कि इससे स्वराज मिला। विदेश के लोग हमारी ओर आशा लगाये हुए हैं और देख रहे हैं कि शायद उन्हें इस देश से कोई ऐसी बात मिल जाय कि उनकी भविष्य की विपत्ति हट सके। क्या हम अपने को इतना योग्य बना सके हैं कि गांधीजी के समान हम उन्हें कोई संदेश दे सकें? जैसी परिस्थिति आती है, साधन निकालने पड़ते हैं। विदेशी लोग हमारी ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं कि उनके लिए हम कोई हल निकाल सकें। हम अपने को इस योग्य तभी बना

सकेंगे जब इस देश में कुछ ऐसा कार्य करलें कि दूसरे देश के लोगों पर हमारी नैतिकता का असर पड़ सके। स्थिति तो वास्तव में ऐसी हैं। गांधीजी ने जो रास्ता हमें बताया था, हम उससे उलटे चल रहे हैं। हमें सोचना है कि ये दिक्कतें जो हमारे सामने हैं, उनका क्या हल है? गवर्मेन्ट और गैर-सरकारी संस्थाओं में बड़ा अन्तर है। हमारे ऊपर जिम्मेदारी सिर्फ सलाह देने की है। हम किसी कार्य को स्वतंत्र रूप से चला नहीं सकते। सरकार हमारी जरूर है। यह हो सकता है कि जो यहां हैं वे वहां चले जावें, जो वहां हैं, वे यहां चल आवें। गवर्मेन्ट में हमारे ही लोग हैं। इसलिए हमें इस चीज़ को किसी दूसरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। हम उनकी शिकायत नहीं कर रहे हैं, या दोष निकालने की दृष्टि से कुछ नहीं कहना चाहते हैं, बल्कि उद्देश्य-सिद्धि के लिए कह रहे हैं या कर रहे हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। दोनों ही एक ओर जाना चाहते हैं और दोनों ही के पास जो साधन हैं उन्हीं से काम करना चाहते हैं। यदि इसी तरह हम काम कर लें तो गवर्मेन्ट और हमारे बीच मतभेद की कोई बात नहीं है। यदि गवर्मेन्ट से कोई गलती होती है तो उसको ठीक रास्ते पर लाने का यही तरीका है और उसी तरह यदि हमसे कोई गलती होती है तो हमारा रास्ता भी सुधारा जा सकता है। इस लिए मैं चाहता हूं की देश की जो परिस्थिति है उस पर हम गंभीरतापूर्वक सोचें और उसमें जो बुराइयां आ गई हैं, उन्हें दूर करने में क्या कर सकते हैं इस पर विचार करें और निश्चय करके उसके अनुसार अपना कार्य शुरू करदें। हम इस बात को छोड़ दें कि गवर्मेन्ट क्या करती है और क्या नहीं करती, क्योंकि यदि हम अपने को दुरुस्त कर लेंगे तो उसका असर उस पर भी होगा।

('सर्वोदय-समाज' के राऊ-सम्मेलन में दिया गया भाषण। ९-३-४९)

—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

: राम-राज्य :

राम-राज्य ग्राम-राज्य है। क्यों? क्योंकि ग्राम में राम बसता है। और शहर में? दाम! और क्योंकि राम और दाम एक साथ नहीं रह सकते, ग्राम और शहर भी एक-दूसरे से दूर रहते हैं। और इस दूर रहने में ही दोनों का, शायद, सच्चा कल्याण है।

मगर लोग तो कहते है कि राम हर जगह बसता है? वह ठीक है, परन्तु ग्राम उसे बहुत प्यारा है। क्यों? क्योंकि ग्राम के लोगों के जीवन में सबसे पहला स्थान राम का है, जैसे कि शहर के लोगों के जीवन में पहला स्थान पैसा परमेश्वर का है। अगर पैसा न होता तो ग्राम के लोगों का जीवन-संगीत इस प्रकार का न होता :

राम भजेजा, काम करेजा,
फिर किसका डर है ?
इस नगरी में सभी मुसाफिर
यह किसका घर है ?

ग्राम के लोगों को जीवन-साधना ने यह सत्य सिखलाया है कि 'ग्राम' का अर्थ है 'अग्र-राम'। क्यों? क्योंकि उन्हें सारे दिन ऐसी वस्तुएं दिखाई देती हैं जो उनकी चेतना में यह ठसा ही देती हैं कि उनकी अपनी कोई भी वस्तु नहीं है, सब कुछ राम का है—आकाश, पृथ्वी, सूर्य, तारे, चाँद, हवा पानी, बीज, कुटुम्ब-कबीला, मित्र-मंडल आदि। इसलिये न जानते हुए भी उनका प्रत्येक श्वास उन्हें कान में कहता है :

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मेरा ?

अगर ग्राम के लोगों की चेतना में इस प्रकार का सत्य अश्रु और अग्नि से अंकित न हुआ होता तो उनमें शारीरिक कष्ट, मानसिक अशांति आदि सहन करने की शक्ति इस हद तक न पाई जाती, जिस हद तक उनमें पाई जाती है ।

हां, यह सब बातें उन्हें मालूम नहीं है । मगर इन सब बातों का असर उनके जीवन पर गुप्त रूप में पड़ता है इससे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता । ग्राम के लोग तो बच्चों की तरह रहते हैं । वे चलते हैं, उन्हें कौन चलाता है, और किस तरह, इसका ज्ञान उन्हें नहीं होता ।

शायद यही कारण होगा कि अंग्रेजी कवि ने कहा है, "प्रभु ने ही ग्राम बनाया है, और शहर मनुष्य ने ।"

तो राम-राज्य ग्राम-राज्य है, इसमें क्या किसी किस्म की अतिशयोक्ति है ?

तो फिर गांधीजी का दिया हुआ मानव-कल्याण-मंत्र "ग्राम-राज्य है राम-राज्य" ठीक हुआ ।

मगर हमारी सरकार ने तो हमारे देश के विधान से राम को ही निकाल दिया है, तब हमारे देश में राम-राज्य कैसे स्थापित हो सकता है ?

—श्री गुरुदयाल मल्लिक

———

{२}

: आर्थिक व औद्योगिक क्षेत्र :

(१) 'अर्थ' की स्थिति
(२) राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र
(३) बड़े और घरेलू उद्योग
(४) स्वदेशी और घरेलू उद्योग
(५) पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा



: "अर्थ" की स्थिति :

विनाश की ओर

समाज में व्यक्ति के काम की कीमत उसके पीछे रहे हुए हेतु और वृत्ति पर से तय नहीं की जाती बल्कि उस काम में शरीर-श्रम और बौद्धिक-श्रम कितना लगता है, इसी पर से निश्चित की जाती है, यह आज की स्थिति है। इसका परिणाम यह हुआ कि काम का नैतिक और आध्यात्मिक स्तर गिर गया है और अर्थ को यानी पैसे को अनर्थकारी पद प्राप्त हो गया है। आज समाज पर एक निकट प्रसंग ही आ पड़ा है।

पूंजीवाद का परिणाम

प्रत्येक वस्तु का पैसे के माप से मूल्यांकन करना औद्योगिक अथवा पूँजीवादी समाज का मुख्य लक्षण है। स्पर्धा पूँजीवादी समाज का प्राण है। शरीर-श्रम और बुद्धि की स्पर्धा में बुद्धि की बाज़ारू क़ीमत अधिक लगना एक प्रकार से अपरिहार्य ही है। पर जबतक यह स्थिति क़ायम है तबतक समाज की आर्थिक विषमता का नष्ट होना भी असंभव है। इतना ही नहीं, श्रम की सच्ची प्रतिष्ठा क़ायम करना भी अशक्य ही है। आज तो शरीर-श्रम करना अप्रतिष्ठा का ही लक्षण माना जाता है। लोग मज़बूरी से मेहनत करते हैं। पूंजीवाद का यह कुलक्षण जब तक नष्ट नहीं हो जाता, तब तक संघर्ष अटल है।

क़ानून का भी महत्व कम हो जाना

प्रश्न यह है कि निष्काम-बुद्धि से और समाज-हित की दृष्टि से जो बौद्धिक या शारीरिक श्रम किया जाता है, उसका मूल्यांकन रुपये-आने-

पाई में करना कैसे संभव है ? जहाँ दो वस्तुओं में किसी भी प्रकार का समान गुण-धर्म नहीं है, वहां कोई एक-दूसरे का मूल्य अथवा माप कैसे बन सकता है ? निसर्गतः सोने-चाँदी में और उससे खरीदी जानेवाली वस्तुओं में ऐसा कोई भी समान-धर्म नहीं कि जिसके कारण कोई एक-दूसरे का मूल्य या माप बन सकेगा। सारा ही खेल कल्पना का है। अब तो सोने-चाँदी का भी प्रश्न नहीं रहा है। बाज़ार में केवल कागज़ के टुकड़ों की भरमार है। इस वस्तुस्थिति के कारण आज किसी के भी लिए कानून का पालन करके या उसका भंग करके भी, धन का अपहरण करने की संभावना निर्माण हो गई है।

पैसा : आदमी का देव

इसका परिणाम यह हुआ है कि आज कोई भी व्यक्ति सामाजिक उपयुक्तता के लिए वस्तु का निर्माण नहीं करता, बल्कि केवल बाज़ार में बेचने के लिए ही उसका निर्माण करता है। फलस्वरूप किसी भी निर्माता की, फिर वह श्रम-जीवी हो या बुद्धिजीवी, समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं रही, क्योंकि बुद्धिजीवी भी अपनी बुद्धि और ज्ञान का विक्रय ही करता है। स्पर्धा के बाज़ार में श्रम की अपेक्षा बुद्धि की रुपये-आने-पाई के रूप में आज अधिक कीमत आये तो यह भी खरीदी जा सकती है। इस परिस्थिति के कारण आज के समाज में केवल अर्थ को न सिर्फ प्रतिष्ठा ही प्राप्त हुई है, बल्कि अर्थ ही आदमी का देव बन गया है। जब मनुष्य और उसका सब प्रकार का श्रम अप्रतिष्ठित बन जाता है और वह स्वयं ही जब दूसरे का दास बन जाता है, तब उसके विनाश में कितनी देर लगेगी ?

शरीर-श्रम की अपेक्षा बुद्धि का आर्थिक मूल्य अधिक निश्चित होन से उसका तात्कालिक दुष्परिणाम यह भी होता है कि उत्पादन बढ़ाकर देश को समृद्ध करना कठिन हो जाता है। आज हमारे देश में 'उत्पादन बढ़ाओ' का कुहराम छोटे-बड़े सब मचाते हैं, फिर भी उत्पादन जितना

चाहिये उतना नहीं बढ़ता, इसका भी यही कारण है। शरीर-श्रम का मूल्य कम आंक कर एक ओर उसकी प्रतिष्ठा कम करना और दूसरी ओर 'उत्पादन बढ़ाओ' कहना, इसका अर्थ है, प्रवाह की उलटी दिशा में तैरने का प्रयत्न करना।

बाज़ार बन्द होंगे

लोगों की उद्योगशीलता बढ़े, देश समृद्ध हो और समाज की सब प्रकार की विषमताएं नष्ट होकर शोषण एकदम रुक जाए, ऐसी हमारी आकांक्षा हो, तो हमें प्रमाणिक रूप से किये हुए सब प्रकार से श्रम की प्रतिष्ठा समान समझ कर उसके आर्थिक मूल्य को भी समान ही बनाना होगा।इसी तरह, किसी भी प्रकार के श्रम से होनेवाला उत्पादन उसकी उपयुक्तता के लिये होना चाहिए, न कि बाज़ार में विक्रय के लिए, जो कि सर्वथा अनुचित है। इसका परिणाम बाज़ार बन्द होने में होगा। इस काम में बुद्धिजीवी लोगों का नेतृत्व आवश्यक होने वाला है।

बुद्धि का विक्रय बन्द हो

आर्थिक पूंजीवाद की अपेक्षा बौद्धिक पूंजीवाद अधिक भयावह है; क्योंकि दूसरा सूक्ष्म है और उसे भौतिक सृष्टि का सहारा है। प्राचीन ऋषियों ने और ब्राह्मणों ने यानी बुद्धिजीवी लोगों ने ऐसा विधान बना दिया था कि वे बुद्धि का विक्रय न करें और अस्तेय तथा अपरिग्रह का व्रत लें। इनमें उनके दृष्टापने का प्रमाण मिलता है। अब सर्व प्रथम बुद्धिमान वर्ग को अपनी बुद्धि का विक्रय करना छोड़ देना ही चाहिए।

इसी तरह श्रम-पूजा की बात है

ईश्वर ने मनुष्य को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियां (इन्द्रियाणि दशैकं च) दी हैं। देखने के लिए आँखों का, सुनने के लिए कानों का, चलने के लिए पैरों का और काम के लिये हाथों का उपयोग किया जाय, यही संकेत ईश्वर ने स्पष्ट रूप से किया है। भूख मिटाने के लिए मनुष्य को

अनाज की जरूरत होती है। अनाज पैदा करने के लिए जो श्रम करना पड़ता है, वह स्वयं उसी को करना चाहिए, यह बिल्कुल स्वाभाविक है और न्याय भी। मनुष्य को श्रम किये बिना चारा नहीं। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो मृत्यु को स्वीकार करना होगा। इसलिए प्रकृति का यह नियम ही समझना चाहिए कि मनुष्य स्वयं श्रम करके अन्न पैदा करे। यह कहने की जरूरत नहीं कि मनुष्य के हाथ से इस नियम का जितना उल्लंघन होगा, उतनी ही उसे सज़ा भुगतनी होगी। पशु-पक्षियों को तो अपने अन्न के लिए स्वयं श्रम करना पड़ता है; लेकिन पशु-पक्षियों का यह स्वभाव-धर्म ही है कि प्रकृति जितना देती है, उतने में अपनी उपजीविका चला ली जाय। मनुष्य की स्थिति ऐसी नहीं है। इसलिये उसको श्रम करना अनिवार्य है।

—श्री शंकरराव देव

: राष्ट्रीय अर्थशास्त्र :

आज तक खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है। अब श्रद्धा के साथ-साथ विचारपूर्वक करने का समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं, क्योंकि उन्होंने ही खादी की दर बढाई है।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थो। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर "यंत्र-युग" होने के कारण कार्यकर्त्ताओं ने मिल के भाव दृष्टि में रख कर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहां गरीबी थी उन स्थानों में कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्ति का कार्य चलाना पड़ा। लेने वालों ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यम वर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि उसके भाव मिल के कपड़े के बराबर हो गये हैं, वह टिकाऊ भी काफ़ी है और मंहगी भी नहीं है। अर्थात् 'थुड़मुली और थन-दुधी' इस कहावत के अनुसार खादी रूपी गाय लोगों को चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजी ने सामने रखी है कि अब मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिएं। क्या यह भी लाल-बुझक्कड़ की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहने में कुछ सार भी है? इस पर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठ के अंदर ही हैं, संसार से अभी ऊब नहीं गये हैं, दुनिया में अभी

हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नहीं जंचते तो यह समझ कर हम इन्हें छोड़ सकते हैं कि यह खब्तो लोगों को सनक है। सच बात तो यह है कि जब से खादी को मजदूरी बढ़ी तब से मुझमें मानों नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातने वाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काम में लाता हूं। कातने समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करने पर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़ में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मौन-पूर्वक कातता था। एक बार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसन में कातता रहता, तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्र में इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। **"घायल की गति घायल जानै।"**

मेरे हाथ के सूत की धोती पांच रुपये की हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदने को तैयार हैं। कहते हैं, "यह आपके सूत की है, इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों? मैं मजदूरों का प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थिति में मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिंता दूर हो गई है। पहले कातने वाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहनने-वालों को मालूम हो रही है।

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं —(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करने वाले और (३) कुछ भी धंधा न करने वाले जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरा। अर्थ-शास्त्र का यह नियम है कि इन तीनों वर्गों में जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर अन्न, वस्त्र और आश्रय की आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्व पर चलता है। जैसा कुटुम्ब में वैसा ही समस्त राष्ट्र में होना चाहिए। इसी का नाम है

"राष्ट्रीय अर्थशास्त्र"—"सच्चा अर्थशास्त्र।" इस अर्थशास्त्र में सब ईमानदार आदमियों के लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगों के पोषण का भार राष्ट्र के ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशों में (जो यंत्र-सामग्री से संपन्न हैं) दूसरे देशों की संपत्ति वह कर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारी के कारण प्रतिवर्ष बेकारों को भिक्षा (डॉल) देनी पड़ती है। ऐसे २०—२५ लाख बेकारों को मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियों को काम किये वगैर अन्न न दो, पर वहाँ अन्नदान का रिवाज चालू है। इन लोगों को काम दीजिए। इन्हें काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खाने को दो', यह नीति इंग्लैंड में है तो सारे संसार में क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिए। पर यहां लागू करने पर काम न देकर १।। करोड़ लोगों को अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम १।। करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगों को अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मन में ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंड वाले दूसरे देशों की संपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारी से राज करना हो तो ऐसा करना संभव नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहां ऐसा कोई धंधा नहीं जो कृषि के साथ-साथ किया जा सके। जिस देश में केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिंदुस्तान में तो ७५ प्रतिशत से भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहां की जमीन पर कम-से-कम दस हजार बरस से काश्त की जाती है। अमेरिका हिंदुस्तान से तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहाँ की सिर्फ १२ करोड़ है। जमीन की काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्व से हो रही है। इसलिए वहां की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारों के हाथ में और भी धंधे दिये जायं तभी वह

सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करने वाला, (२) गोपालन करने वाला और (३) धुनकर कातने वाला। काश्तकार की यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तान में काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश, यह वर्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं आनंद है। खादी बीड़ी का बंडल अथवा लिप्टन की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसाने को कहें तो इसमें कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माण का काम है, विध्वंस का नहीं। यह विचार अंग्रेजों के विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं, यह तो सद्‌भाग्य ही है। पहले—बहुत पहिले खादी थी ही; पर उस खादी में और आज की खादी में अंतर है। आज की खादी में जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज की खादी का अर्थ है सारे संसार में चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी के प्रवाह के ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समय का संहार करने वाली मैं हूं।" यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादी की यदि मिल के कपड़े से तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई—मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिल की तुलना में सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं बड़े मोल की हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हें अलंकृत करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांपने-भर को नहीं आई; मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे धीरे ही आगे जायेगी और जायेगी तो पक्के तौर से जायेगी। खादी के प्रचलित विचारों की विरोधिनी होने के कारण उसे पहनने वालों की गणना पागलों में होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बनाये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करने वाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्यों को हमें अन्न देना है। इसे करने के लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्व प्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातने का काम करने वाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओं के विषय में काश्तकार को स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरों को महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हों वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी; पर घड़ी, गिलास जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तव में दूध महंगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिये जो हैं महंगे। यह आज की स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरों को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्र में ७५ प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारों की चीजें महंगी और बाकी की चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की बात जानते हैं? हम सब यंत्रविरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जाने वाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रों का आविष्कार

किया है न? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारों की वस्तुएं छोड़कर बाकी की वस्तुएं आप सस्ती कीजिए। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारों के धंधों के अलावा दूसरे धंधों पर चलाइए और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उलटा। काश्तकारों की वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्र की सारी वस्तुएं महंगी! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारों को एक पैसे में पांच डिबिया क्यों नहीं देते? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांववालों को चाहिए। तो दीजिए न आध आने में महीने भर! आप खुशी से यंत्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूं। केले चार आने दर्जन होने चाहिये और आपके यंत्रों की बनी वस्तुएं पैसे-दो पैसे में मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारों से खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खाने के बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा?

इसलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतों के सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा? पर किन का? किसानों को खादी खरीदना नहीं, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महंगी नहीं, वह उन्हें दूसरों को महंगी बेचनी है।

—सन्त विनोबा भावे

———

: बड़े और घरेलू उद्योग :

निजी तौर पर मैं बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास में विश्वास करता हूँ, फिर भी खादी-आन्दोलन और बड़े ग्रामोद्योग-संगठन का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से मैंने समर्थन किया है। मेरे विचार से इन दोनों में कोई आवश्यक संघर्ष नहीं है। यों कभी-कभी दोनों के विकास में और कुछ पहलुओं पर संघर्ष हो सकता है। इस मामले में मैं बड़ी हद तक गांधीजी के दृष्टि-बिन्दु का प्रतिनिधित्व नहीं करता, लेकिन व्यवहार में अबतक हम दोनों के दृष्टि-बिन्दुओं में कभी कोई मार्के का संघर्ष नहीं हुआ।

यह मुझे साफ़ दीखता है कि कुछ मुख्य और महत्व-पूर्ण उद्योग हैं जैसे रक्षा-उद्योग और जनसाधारण की भलाई के काम, ये बड़े पैमाने पर होने चाहिये। कुछ दूसरे उद्योग हैं, वे चाहे बड़े पैमाने पर हों या छोटे या घरेलू पैमाने पर। घरेलू पैमाने पर उद्योग होने के बारे में मतभेद हो सकता है। इस भेद-भाव के पीछे दृष्टिबिन्दु और सिद्धान्त का अन्तर है और मि० कुमारप्पा को जिस प्रकार मैं समझता हूँ, उन्होंने भी इसी दृष्टिबिन्दु के अन्तर पर जोर दिया था। उनका कहना था कि वर्तमान बड़े पैमाने की पूंजीवादी प्रणाली वितरण की समस्या को दरगुजर करती है और उसका आधार हिंसा पर है। इसके साथ मैं पूर्णतया सहमत हूँ। उनका सुझाव यह था कि घरेलू उद्योगों के बढ़ने में वितरण अच्छी प्रकार से होता है और उसमें हिंसा का तत्व भी बहुत कम होता है। इसके साथ भी मैं सहमत

हूँ; लेकिन इसमें अधिक सचाई नहीं है। वर्तमान आर्थिक ढांचा तो हिंसा और एकाधिकार पैदा करता है, और सम्पत्ति तो कुछ लोगों के हाथों में संचित कर देता है। बड़े उद्योग से अन्याय और हिंसा नहीं आती; बल्कि प्राइवेट पूंजीवादी और फाइनेंशियर उनके दुरुपयोग से ऐसा करते हैं। यह सच है कि बड़ी मशीनें आदमी की निर्माण और विनाश की शक्ति बहुत बढ़ा देती हैं। और इनसे आदमी की भलाई और बुराई की शक्ति भी बहुत बढ़ती है। मेरे ख्याल से पूंजीवाद के आर्थिक ढांचे को बदल कर बड़ी मशीनों के दुरुपयोग और हिंसा को दूर करना संभव है। जरूरी तौर पर निजी स्वामित्व और समाज के लाभ के इच्छुक रूप से ही प्रतिस्पर्धात्मक हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवादी समाज से यह बुराई दूर हो सकती है और साथ ही बड़ी मशीनों से होने वाली अच्छाई भी हमें मिल सकती है।

मेरे ख्याल से यह सच है कि बड़े उद्योग और बड़ी मशीन में कुछ स्वाभाविक खतरे होते हैं। उसमें शक्ति-संचय की प्रवृत्ति होती है। मुझे यकीन नहीं है कि उसे एकदम दूर किया जा सकता है; लेकिन मैं किसी भी ऐसी दुनिया या प्रगतिशील देश की कल्पना नहीं कर सकता जो बड़ी मशीन का परित्याग कर सकता है। यदि यह संभव भी हुआ तो उसके परिणामस्वरूप पैदावार बहुत कम हो जायगी और इस प्रकार उससे जीवन की रहन-सहन का माप भी बहुत गिर जायगा। यदि कोई देश उद्योगीकरण को छोड़ देने की कोशिश करता है तो नतीजा यह होगा कि वह देश आर्थिक तथा अन्य रूपों में उन दूसरे देशों का शिकार हो जायगा जिनका कि अधिक उद्योगीकरण हो चुका है। घरेलू उद्योगों के व्यापक पैमाने पर विकास के लिए स्पष्ट रूप से राजनीतिक और आर्थिक सत्ता की आवश्यकता है। यह मुमकिन नहीं है कि एक देश जो घरेलू उद्योगों में पूरी तरह से लगा हुआ है, वह इस राजनीतिक या आर्थिक सत्ता को कभी भी पा सकेगा और इसलिए वह उन घरेलू उद्योगों को भी आगे न बढ़ा सकेगा जिनको कि वह आगे बढ़ाना चाहता है।

इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि बड़ी मशीनों के उपयोग और विकास को प्रोत्साहन देना और इस तरह हिन्दुस्तान का उद्योगीकरण करना जरूरी और मुनासिब है। साथ ही मुझे यकीन है कि इस तरीके से कितना ही उद्योगीकरण क्यों न हो, उससे हिन्दुस्तान में बड़े पैमाने पर घरेलू उद्योग के विकास की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता—घरेलू उद्योग अवकाश के समय के पूरक धन्धे के रूप में नहीं वल्कि स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में। मैं नहीं जानता कि आने वाली एक या दो पीढ़ियों के अर्से में विज्ञान क्या-क्या कर डालेगा, लेकिन जहां तक मैं देख सकता हूँ, घरेलू उद्योग, बड़े उद्योगों के अतिरिक्त, जिनको कि हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया जायगा, हिन्दुस्तान के लिए जरूरी रहेंगे। इसलिए समस्या यह रह जाती है कि इन दोनों का मेल कैसे हो? यह सरकार द्वारा आयोजन का प्रश्न है। मौजूदा अराजक पूंजीवादी प्रणाली के होते हुए इसे सफलतापूर्वक नहीं सुलझाया जा सकता।

इस विषय पर अपने विचार संक्षेप में समझाने को मैंने कोशिश की लेकिन यह तो मैं महसूस करता ही हूँ कि घरेलू उद्योगों के प्रतिपादकों के साथ, उनके आधारमूलक दृष्टि-विन्दु को स्वीकार न कर सकते हुए भी, मैं पूरी तरह से सहयोग कर सकता हूँ।

दुर्भाग्य से हम एक संक्रांति अवस्था में होकर गुजर रहे हैं, जबकि पूंजीवादी-प्रथा का विस्फोट हो रहा है। इससे बहुत-सी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। हर हालत में यह तो स्पष्ट है कि आज भी जो सिद्धान्त लागू किये जायेंगे, वे वही होने चाहिए जिनका निर्माण कांग्रेस ने किया है—याने मुख्य उद्योग, सर्विसें और यातायात इत्यादि पर राज्य का स्वामित्व हो या वे उसके नियंत्रण में हों। यदि 'मुख्य उद्योगों' में सभी प्रमुख उद्योग शामिल हैं तब तो बहुत बड़े अंश में समाजीकरण होगा। अपनी नीति के आवश्यक परिणाम के स्वरूप में मैं तो यह भी कहूँगा कि जहाँ कहीं बड़े

उद्योग —जो किसी की निजी सम्पत्ति हैं—और घरेलू उद्योग के बीच कोई संघर्ष है, वह राज्य को उस बड़े उद्योग को अपनी सम्पत्ति बना लेना चाहिए या उसे अपने नियंत्रण में कर लेना चाहिए। उस दशा में राज्य को अपनी बनाई किसी भी नीति को ग्रहण करने का अधिकार और आजादी है और वह बड़े और घरेलू दोनों प्रकार के उद्योग में मेल करा सकती है।

अपने पिछले बीस बरस के कांग्रेस की नीति के काफी अनुभव से मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उद्योग हिन्दुस्तान के लिए बड़े आर्थिक और सामाजिक लाभ के रहे हैं। यह बिल्कुल सच है कि कांग्रेस यह मान कर चली कि बड़े उद्योग तो इतने समर्थ हैं ही कि अपनी देखभाल खुद कर लें, और इसलिए अधिक ध्यान घरेलू उद्योगों की तरफ देना चाहिए। हम तो ग़ैर-सरकारी संस्था थे और राज्य का आर्थिक ढांचा हमारे काबू से एकदम बाहर था। ऐसी परिस्थितियों के बीच बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने का मतलब था निजी स्थापित स्वार्थों, अक्सर विदेशी स्थापित स्वार्थों, को प्रोत्साहन देना। लेकिन हमारा तो ध्येय था कि हिन्दुस्तान की मनुष्य शक्ति का और बहुत से लोगों के समय का जिनका कि अपव्यय हो रहा था, सदुपयोग करके न सिर्फ पैदावार को ही बढ़ाया जाय, बल्कि हिन्दुस्तान की जनता में आत्म-निर्भरता पैदा की जाय। इसमें काँग्रेस को बहुत सफलता मिली।

इस विषय पर हवाई शुद्ध सिद्धान्त के रूप में विचार नहीं किया जा सकता। बल्कि देश की मौजूदा स्थितियों और जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में उन पर विचार होना चाहिए। मानवी साधनों को हम दरगुजर नहीं कर सकते। आज चीन में घरेलू उद्योगों की तरफ कोई विशेष झुकाव नहीं है। लेकिन स्थितियों के दबाव से चीनियों को बहुत तेजी के साथ अपने ग्रामोद्योग और सहकारी धंधे बढ़ाने पड़े हैं। हमारे ग्रामो-

ग्रामोद्योग आन्दोलन में चीन की बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी और मुझ से कहा गया था कि उद्योगों के अपने विशेषज्ञों को मैं चीन भेजूँ। यह संभव है कि कुछ चीनी विशेषज्ञ हमारे ग्रामोद्योगों के तरीकों का अध्ययन करने के लिए हिन्दुस्तान आवें।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

———

: स्वदेशी और घरेलू उद्योग :

बड़े पैमाने पर होने वाले कारखानों के उत्पादन के कारण हर जगह आदमी मशीन का गुलाम वन गया है। निरन्तर छँटते जाने और संख्या में कम होते जाने वाले एक दल के हाथ में धन का केन्द्रीकरण करके इसने प्रतिस्पर्द्धी, परस्पर युद्ध-निरत वर्गों की सृष्टि की है। इसके कारण समाज का आधार निरन्तर अस्थिर और अव्यवस्थित हो रहा है तथा क्रान्तियाँ एवं प्रतिक्रान्तियाँ होती रहती हैं। कारखानों से पैदा होने वाली सामाजिक और नैतिक बुराइयां लोगों को भली-भांति मालूम है इसलिए उनकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि शक्ति इन मशीनों के मालिकों के हाथ में होने के बजाय सार्वजनिक हित के लिए काम करने वाले भले और विवेकशील लोगों के हाथ में हो तो इन सब बातों को नियंत्रण में रखा जा सकता है। यह विल्कुल सम्भव है कि जनता की अथवा जनता के लिए काम करनेवाली एक विवेकशील सरकार धन के उत्पादन की ऐसी व्यवस्था करे जिससे विषमताएं दूर हो जायँ, और इन विषमताओं के दूर होने पर मशीन के जरिये बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन से सम्बन्धित सामाजिक और नैतिक बुराइयाँ समाप्त हो जायं। जहाँ उत्पादन और वितरण निजी लाभ के लिए न होकर जनता के हित और कल्याण के लिए हो तहाँ तो मानवता विज्ञान की बुराइयों से बचकर उसके सम्पूर्ण लाभों का उपयोग कर सकती है। वह मशीन को अपना मालिक नहीं, सेवक बना सकती है। किन्तु जब तक ऐसे विवेकपूर्ण शासन का जन्म या स्थापना न हो तब तक

यह आशा करना कि आज मानवता जिन वर्तमान बुराइयों से पीड़ित हैं वे उल्लेखनीय रूप में दूर की जा सकती हैं, व्यर्थ है।

अनुभव ने बता दिया है कि पूंजीवादी व्यवस्था ने जो विषमताएं पैदा कर दी हैं उन्हें सामाजिक और कारखानेदारी के कड़े से कड़े कानूनों द्वारा भी दूर करना संभव नहीं है। ये विषमताएँ बनी रहती हैं और सर्वहारा और सर्वभोगी वर्गों के बीच ईर्ष्या, असन्तोष, घृणा, झगड़े और लड़ाई पैदा करती रहती हैं। अगर विज्ञान मानवता के कल्याण और प्रगति के लिए आर्थिक जीवन को नियंत्रित करना चाहता है तो उसे न केवल उत्पादन, बल्कि खपत, वितरण और धन के विनिमय को भी नियंत्रित करना पड़ेगा। आज के पूँजीवादी समाज में तो विज्ञान का यही काम रह गया है कि वह केवल उत्पादन में वृद्धि करता जाय—और यह वृद्धि भी न केवल उपयोगी चीजों के उत्पादन में, बल्कि निरर्थक तथा हानिकर चीज़ों के उत्पादन में। विज्ञान मशीन और उसके संचालन-कौशल का निर्माण करके वहीं रुक गया है। इन मशीनों पर दिन-दिन संख्या में कम होते जाने वाले दल ने भले-बुरे सब तरह से, और ज्यादातर अनुचित तरीकों से कब्जा जमा लिया है। अगर मानवता को विज्ञान का लाभ उठाना है तो उसे विज्ञान-द्वारा समाज के लिए आवश्यक मात्रा में ही उपयोगी वस्तुओं के निर्माण की व्यवस्था करनी होगी और जो चीजें वर्तमान पीढ़ी या भावी पीढ़ियों के लिए निरर्थक और हानिकर हैं उन्हें दूर कर देना होगा। विज्ञान की सहायता से जो भी धन पैदा हुआ है उसके वितरण, विनिमय और खपत पर विज्ञान को पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना होगा। आज यदि भौतिक विज्ञान ने प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करना संभव कर दिया है तो समाज-संबंधी विज्ञानों ने भी एक वैज्ञानिक दृष्टि से नियोजित अर्थनीति का प्रचलन बिल्कुल संभव बना दिया है। इसलिए विज्ञान के भक्त यदि एक विभाग (कारखाने) में उसके उपयोग की वकालत करते हैं तो अपने विश्वास की सच्चाई की खातिर उन्हें और आगे बढ़ना होगा और सम्पूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को विज्ञान के नियंत्रण में लाना होगा। आज

विज्ञान के आंशिक उपयोग के ही कारण मानवता के आर्थिक जीवन में, और फलतः सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में भी, पूर्ण भ्रान्ति तथा गोलमाल पैदा हो गया है।

मशीन और कारखाने के आगमन के पहले, अपने घरेलू उद्योगों के साथ, एक कृषक-सभ्यता का आर्थिक जीवन उससे कहीं ज्यादा उचित रीति से नियंत्रित था जितना और जिस रूप में आज वह पूंजीवादी व्यवस्था में नियंत्रित है। तब यह सवाल उठता है कि जो देश थोड़ा या बहुत पुरानी अर्थनीति से आज भी शासित है उनमें ज्यादा गड़बड़ी—भ्रान्ति—पैदा करना क्या वाञ्छनीय है? पुरानी व्यवस्था प्रथा से नियंत्रित है और अत्यधिक दुरुपयोग से उसकी रक्षा करने के लिए ऐसी नैतिक और सामाजिक मर्यादाएँ बनी हुई हैं जिन्हें अमान्य करना परम शक्तिमानों के लिए भी कठिन होता है।

इसलिए यदि हम मशीन और मशीन-युग के पक्ष या विपक्ष में दिये जाने वाले पूर्व-कल्पित सिद्धान्तों को अलग छोड़ दें तो भी एक व्यवहारिक सुधारक के मन में गंभीरतापूर्वक यह प्रश्न उठे विना नहीं रह सकता कि आज जो अव्यवस्थित आर्थिक जीवन वर्तमान है उससे अधिक अव्यवस्थित जीवन का श्रीगणेश करना क्या उसके लिए उचित होगा? उस अव्यवस्थित जीवन का जो अपने साथ विषमताएँ, गन्दगी, मलिनता, शारीरिक और नैतिक रोग, ईर्ष्या, घृणा और वर्ग-युद्ध लायेगा, और तब इन सबको पैदा करके व तराजू के पलड़ों को समान करने के लिए एक खूनी रक्तवर्णी क्रान्ति की प्रतीक्षा में वैठना कहाँ तक उचित होगा? इससे ज्यादा अच्छा क्या यह न होगा कि जबतक ज्यादा व्यवस्थित, वैज्ञानिक और संयोजित अर्थनीति संभव नहीं बनती तव तक वर्तमान व्यवस्था में, जो बुरी तो है ही, रहकर संघर्ष करें और इस वीच पुरानी व्यवस्था को उत्तमतर और अधिक सेवोपयोगी बनाने की दृष्टि से उसमें अधिक जीवन और शक्ति डालने के लिए समस्त संयोगों एवं सुविधाओं का उपयोग कर लें? सुधारक के लिए इस प्रकार के विचार रखना विल्कुल सम्भव है। घरेलू और ग्रामीण

उद्योग-धंधों को पुनर्जीवन देने के प्रयत्न के मूल में, अन्य बातों के साथ, यही बात है। जो लोग विज्ञान और यंत्रीकरण की वकालत करते हैं, इसे प्रदर्शित करना उनका काम है कि आर्थिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों को विज्ञान द्वारा नियंत्रित करने के लिय उनके पास न केवल आवश्यक योग्यता और संकल्प बल्कि शक्ति भी है।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है हमारे पास वह छोटी-सी शक्ति भी नहीं है जो पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक और सामाजिक कानूनों के रूप में अन्य स्वतन्त्र देशों को प्राप्त है इसलिए हम अपनी जनता की अत्यन्त निर्दय शोषण से रक्षा करने में असमर्थ हैं। अहमदाबाद का मजदूरसंघ, जो अनुदार और निश्चित रूप से एक अक्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन है और गांधीजी की समझौते की नीति के अनुसार चलाया जाता है, श्रमिकों के प्रति सामान्य और उचित अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ है। क्रूर और अदूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ-नीति से संचालित होकर वहाँ के मिलएजेंटों ने इन वर्षों में बराबर श्रमिकों के वेतन में गहरी कटौती करने का प्रयत्न किया है और वह भी उस हालत में जब अहमदाबाद की मिलें खूब मुनाफा उठा रही हैं और मिलों की तादाद हर साल बढ़ती जाती हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि यह वेतन की कटौती उस संरक्षण और सहायता के बावजूद की जा रही है, जो हिन्दुस्तानी मिलों को स्वदेशी आन्दोलन के कारण प्राप्त है और जिसके असर में हिन्दुस्तानी ग्राहक देशी मिलों के कपड़े के लिए लंकाशायर या जापान के उसी कोटि के कपड़े के दाम से ज्यादा दाम बिना हिचकिचाहट के दे देते हैं; यह कटौती इस बात के भी बावजूद है कि इस उद्योग के लिए जब कभी और जो कोई संरक्षण सरकार से माँगा गया उसका सदा जनता ने समर्थन किया; फिर यह कटौती इस बात के बावजूद भी है कि मिलों ने खुद अपनी व्यवस्था में सुधार करने से सदा इन्कार किया और एजेंटों ने अपने मोटे तथा अनुचित वेतन और चार्ज में कमी करने की रजामन्दी कभी जाहिर न की। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता बिना किसी वेतन के मिलों के एजेंट और प्रचारक के रूप में काम करते हैं। उन्होंने

उनका विज्ञापन किया है और जनता का काफी पैसा खर्च करके उनके लाभ के लिए प्रदर्शिनियों की योजना की है। इन सब का लाभ कुछ पूंजी-पति चुपचाप निगल जाते रहे हैं। उन्होंने कॉंग्रस को दिये गये वचनों और प्रतिज्ञा-पत्रों का भंग किया है। सब से स्वदेशी और विदेशी वस्त्र-वहिष्कार की भावना का राष्ट्र पर आधिपत्य हुआ तब से मिल-मालिक बराबर नीच, देशद्रोहपूर्ण और आत्म-घातक खेल खेलते रहे हैं। बंग-भंग आन्दोलन के दिनों में उन्होंने दाम इतना चढ़ाया कि उस समय के स्वदेशी आन्दोलन को करीब-करीब बरबाद करके छोड़ा। १९२१ से उन्होंने कम नम्बर के सूत के मोटे कपड़े के उत्पादन में वृद्धि करनी आरम्भ की क्योंकि वह उस आन्दोलन की सीधी होड़ में आता था जिससे उनको समर्थन प्राप्त हुआ था—अर्थात् खादी आन्दोलन; क्योंकि वे सब लोग, जो खादी नहीं ग्रहण कर पाते थे स्वदेशी की आड़ लेकर देशी मिलों के कपड़े ही ग्रहण करते थे। कुछ मिलें और आगे बढ़ीं और उन्होंने अपने कम नम्बर के मोटे कपड़े को खादी का नाम दे दिया। १९३२ ई० से तो राष्ट्रीय यज्ञ के प्रति खुला विश्वासघात हुआ है। कॉंग्रेस के साथ अच्छे दिनों में किये राज़ीनामों या समझौतों को मिलवालों ने किस अकड़ और उद्धतता के साथ ठुकराया, इसे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जानते हैं। अन्य अनेक रीतियों से उन्होंने यह प्रकट कर दिया कि वे राष्ट्रीय धर्म पर संकुचित, अदूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ-परायणता—खुदगर्जी—को अधिक पसन्द करते हैं। उनके पास समझने के लिए दिमाग, और देखने के लिए आँखें होतीं तो वे सहज ही जान सकते थे कि यही राष्ट्रीय आन्दोलन, अन्त में, उनका सर्वोत्तम संरक्षण सिद्ध होगा। उनके प्रतिनिधि ने केन्द्रीय धारा-सभा में न केवल दमन का समर्थन किया बल्कि कांग्रेस को कुचल देने की भी माँग उपस्थित की। ओटावा समझौते में मदद देकर और लंकाशायर तथा जापान से पैक्ट करके उन्होंने भली-भाँति प्रकट कर दिया कि वे खुद अपने हितों के रक्षक होने के भी अयोग्य हैं—राष्ट्रीय हितों की रक्षा तो क्या करेंगे? मैंने वस्त्र-व्यवसाय को केवल उदाहरण के रूप में लिया है। चीनी तथा दूसरे उद्योगों का भी

यही हाल है; वहाँ भी अपरिमित लोभ के लिए जन-हित की उपेक्षा की यही दुःखपूर्ण कहानी है।

जब हमारी विवशता इस सीमा तक बढ़ी हुई है कि हम समझौते की शर्तों का भी पालन नहीं करा सकते, जब हम मजदूरों की रक्षा नहीं कर सकते, जब हम खपत करने वालों की मदद नहीं कर सकते और जब हम अपने बोये हुए को काट भी नहीं सकते, बड़े पैमाने पर मशीन द्वारा उत्पादन को सहायता तथा उत्तेजना देने की बात करना महज़ फिजूल है। हमने अपनी पूरी ईमानदारी और देश-प्रेम के साथ इसके लिए प्रयत्न कर देखा है। हमने विदेशी प्रतिद्वंद्विता—होड़—से बड़े उद्योगों की रक्षा की है, हमने विदेशी सरकार से उनकी रक्षा का यत्न किया है, हमने क्रान्तिकारी समाजवाद से उनको बचाने की कोशिश की है; फिर भी हमें बदले में घोर कृतघ्नता और विश्वासघात के सिवा और कुछ नहीं मिला। अगर उद्योग-धंधों ने यह वर्ताव किया है तो व्यापार ने भी उससे कुछ अच्छा व्यवहार नहीं किया है। आढ़तियों और फुटकर बिक्री करने वाले व्यापारियों ने अक्सर विदेशी चीजों को शुद्ध स्वदेशी के नाम पर बेचा है।

इन सब बातों के होते हुए भी जो लोग विज्ञान और आधुनिकता के नाम पर हमसे मशीन की बनी हुई चीजों के प्रचार एवं संरक्षण की मांग करते हैं, निश्चय ही हमसे राजनैतिक और आर्थिक आत्मघात करने के लिए कहते हैं। इन मित्रों से ज्यादा उचित और फलदायक यह होगा कि वे पहले शक्ति और सत्ता हस्तगत करें, और ऐसे अधिकारों से सज्जित हों जिनके द्वारा जन-समूह की, कृषक की, मजदूर की और उपभोक्ता—चीज़ों की खपत करने वाले—की रक्षा हो सके। हमारी जनता, हमारे अधभूखे देश-बन्धुओं की दृष्टि में जो कुछ राष्ट्रीय हित है उसके मार्ग में आने वालों, बाधा डालने वालों को दण्ड देने, और जरूरत पड़े तो उन्हें एक दम से हटा देने की शक्ति पहले वे विकसित करें। पहले उन्हें यह शक्ति प्राप्त करने दो, और तब मशीनों से उत्पादन की बात करने दो, नहीं तो यही कहना पड़ेगा कि वे विज्ञान के नाम पर उससे कहीं ज्यादा

बड़े और खतरनाक कल्पनावादी तथा कट्टर धर्मान्ध हैं जितना गाँधी अपनी अनेक सनकों के साथ है। कम से कम वह पूंजीवादियों के हित से अलग जन-समूहों का हित देखता है। उसने उनका सहयोग माँगा पर वे क्यों सहयोग देने या उसका सहयोग लेने लगे? लोभ और खुदगर्जी से अन्धे होकर उन्होंने, एक सामान्य कर्त्तव्य में, उसके भ्रातृत्व के बढ़े हुए हाथ को पकड़ने से इन्कार किया। जिस सीढ़ी के द्वारा वे अपनी वर्तमान ऊँचाई तक पहुँचे उसी को उन्होंने ठुकरा दिया। मुझे कुछ सामान्य अपवादों का पता है पर वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मैं यह भी मानते को तैयार हूँ कि अभावपूर्ण अधिकार और शक्ति के अभाव में किसी भी देश में यही वात होती। पर इससे यही सिद्ध होता है कि मध्य तथा दीन वर्गों के लिए अपने ही शोषण तथा गुलामी में मदद करना निरर्थक है: जो गरीव हैं उनके लिए धनियों का धन वढ़ाने का प्रयत्न करना फिजूल है; कार (मोटरगाड़ी) पर कार और वंगले पर बँगले वढ़ाना व्यर्थ है। यह कहने का मौका मत दो कि जिनके पास बहुत है उनके पास और वहुत जुड़ रहा है, और जिनके पास थोड़ा है उनसे वह थोड़ा भी छीना जा रहा है। आइए, हम धनिक पूंजीपति के खेल के मुहरे वने विना स्वदेशी को ग्रहण करें—स्वदेशी को, जो राष्ट्र का जीवन रक्त है।

इसलिए जनता का हित चाहनेवाले सब प्रकार के विचारवान और जागरूक देश-भक्तों को घरेलू उद्योगों के भले और सच्चे कार्य में तब तक मदद करनी चाहिए जब तक कि आर्थिक सत्ता अपने हाथ में न आ जाय और आर्थिक सम्पत्ति का सम्पूर्ण उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा खपत केवल एक वैध तथा नैतिक तात्पर्य से, अर्थात् सर्वाधिक संख्या के सर्वाधिक हित की दृष्टि से, नियंत्रित हो।

—आचार्य कृपलानी

: पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा :

भारत में आयोजन का मुख्य उद्देश्य है जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना और उनके लिए अधिक आरामदेह और व्यापक जीवन के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करना। जो कुछ साधन देश में मौजूद हैं उनका अधिक से अधिक अच्छे ढंग से इस्तेमाल किया जाना जरूरी है जिससे उनके द्वारा सामग्री और सेवाओं की अधिक से अधिक प्राप्ति हो। साथ ही आमदनी, धन-दौलत और अवसर की असमानता को कम करना भी ज़रूरी है। इसलिए हमारा प्रोग्राम दुहरा होना चाहिए अर्थात् पैदावार बढ़ाना और असमानताओं को कम करना।

शुरूआत में, हमें पैदावार बढ़ाने पर ज्यादा ज़ोर देना होगा क्योंकि इसके बिना किसी भी तरह की उन्नति हो ही नहीं सकती। लेकिन साथ ही साथ शुरूआत में हमको मौजूदा सामाजिक और आर्थिक ढांचे को बदलने की तरफ भी ध्यान देना होगा क्योंकि बिना ऐसा किए उद्देश्य की प्राप्ति तेज़ी और सफलता के साथ नहीं हो सकती। आयोजन का सार यह है कि सभी मोर्चों पर एक साथ आगे बढ़ा जाय। यह अवश्य है कि हमारे देश के साधन सीमित हैं और इसीलिए हमको सबसे ज्यादा जरूरी चीजें पहले करनी हैं और कम जरूरी चीजें बाद में।

क्योंकि हमारे देश को एक लोकतन्त्र गणराज्य माना गया है इसलिए आयोजन लोकतन्त्र के ढंग पर ही हो सकता है और उसे सफल बनाने के लिए यह जरूरी है कि सारा देश काम में जुट जाय। साथ ही, योजना

का नेतृत्व न सिर्फ ऊपर की सतह में कुछ लोगों के हाथ में हो बल्कि नीचे से नीचे की सतह में भी ऐसे लोग हों जो योजना को पूरा करने का भार अपने कन्धों पर ले सकें और देश में भूमि और उत्पादन के साधनों के रूप में यथेष्ट सम्पत्ति हो। देश की अर्थ-व्यवस्था का विकास प्राप्त पूंजी पर निर्भर करता है। पूंजी की प्राप्ति दो प्रकार से बढ़ाई जा सकती है: एक तो देश के उपेक्षित साधनों का उपयोग करके और दूसरे देश के लिए उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में लग हुए साधनों को दीर्घकालीन कार्यक्रमों में लगाकर। आर्थिक विकास के लिए प्रत्येक देश के सामने दो रास्ते रहते हैं: (१) देश पर कर लगाकर और ऋण तथा अन्य उपायों के द्वारा बचत करके पूँजी जमा की जाय, (२) आरम्भिक अवस्था में धीरे-धीरे पूंजी-संग्रह की ओर बढ़ा जाय। पहले उपाय के द्वारा देशवासियों को आरम्भ में तो बहुत कष्ट उठाना होगा लेकिन बाद में आराम मिलेगा। दूसरे उपाय के द्वारा आरम्भ में कष्ट कम रहेगा लेकिन विकास की गति धीमी हो जायगी। हमारे सामने समस्या यह है कि हम एक सही-सही बीच के रास्ते को पकड़े। अतएव भारत में आयोजन का उद्देश्य होना चाहिए जितनी जल्द हो सके, लोगों की प्रति-व्यक्ति आमदनी को दुगुनी कर देना। इस सम्वन्ध में हमको तीन बातों का ध्यान रखना होगा : (१) आबादी की वृद्धि की गति, (२) पूंजी-संग्रह और राष्ट्र के उत्पादन में वृद्धि के बीच सम्वन्ध, और (३) राष्ट्र के बढ़े हुए उत्पादन का वह भाग जिसको और अधिक विकास तथा उत्पादन के लिये लगाया जा सकता है।

वर्तमान पंचवर्षीय योजना में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति वर्ष राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि होगी उसके २० प्रतिशत को विकास प्रोग्रामों के लिए लगाया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त बाहरी साधनों से भी मदद मिलेगी। यह आशा की जाती है कि सन् १९५५-५६ तक हमारी राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये हो जायगी। सन् १९५०-५१ में यह आय लगभग ९,००० करोड़ आंकी गई थी। यदि सन् १९५६-५७ के बाद प्रत्येक वर्ष अतिरिक्त उत्पादन के ५० प्रतिशत को विकास कार्यों के लिये

लगाया जा सके तो लगभग २७ वर्ष बाद अर्थात् सन् १९७७ तक प्रति-व्यक्ति आमदनी दुगुनी की जा सकेगी। अगर हमारी कोशिशें कुछ और अधिक हों और हम साधनों का उपयोग बड़ी सावधानी से करें तो सम्भव है कि लगभग २० साल में ही लोगों की प्रति-व्यक्ति आमदनी दुगुनी हो जाय।

देश में पैदावार बढ़ाने के लिए न केवल पूँजी, परन्तु उत्पादन के तरीकों में सुधार और तरक्की की भी आवश्यकता है। इसके लिये उत्पादन के क्षेत्र में नये से नये प्रयोग की और खोज करनी होगी। ऐसा करके हम सीमित साधनों के द्वारा भी अनुमान से अधिक उत्पादन कर सकते हैं।

योजना के अनुसार यह भी जरूरी है कि देश के लोगों को ज्यादा से ज्यादा रोजी-रोजगार मिले। इसलिये अभी जो लोग बेकार हैं पहले उनकी मेहनत मजदूरी को विकास के प्रोग्रामों के लिये अधिक से अधिक लगाया जाय और बाद में उनके श्रम से उत्पादन और अधिक बढ़ाया जाय। इसके लिए भी उत्पादन के वर्तमान तरीकों में सुधार जरूरी है।

आयोजन का सार यह है कि आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर हम अपने चारों तरफ निगाह डालकर विचार करें। समस्या केवल यही नहीं है कि साधनों का विकास सीमित टैक्नीकल अर्थों में किया जाय बल्कि यह भी कि मनुष्य की गुणवत्ता में वृद्धि की जाय तथा अधिक बड़े और व्यापक उद्देश्यों के लिये सामाजिक और आर्थिक ढांचे बदले जायें। यह तभी संभव है जब कि देश के सभी वर्ग के लोग इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये संगठित होकर जी-जान से जुट जायें।

पिछले ४० या ५० वर्षों से भारत में उद्योग, आबादी और व्यापार की दृष्टि से बढ़ती होती रही लेकिन यह सभी विकास देश की जरूरतों, और सम्भावनाओं को देखते हुए अधूरा और सीमित ही हुआ है। खास करके खेतीबाड़ी के मामलों में जिन तरीकों का प्रयोग हो रहा है वे पुराने हैं और उनसे पैदावार बहुत कम बढ़ी है। पुराने कुटीर और छोटे-मोटे उद्योग-

धन्धे अपना महत्व खोते गये हैं और देहाती क्षेत्रों में लोगों के पास बहुत अधिक फालतू समय बच रहता है। लेकिन साथ ही आवादी भी तेजी से वढ़ती जा रही हैं जवकि प्रति-व्यक्ति आमदनी और रोजी-रोजगार के मौके विल्कुल ही नहीं वढ़े हैं। इसीलिए अव इस बात की जरूरत है कि हमारी आर्थिक व्यवस्था में ऐसी फेर-वदल हो जाय जिससे कि उत्पादन वढ़े और समता तथा न्याय प्राप्त हो सके।

देश के लिये यह जरूरी है कि वह अधिक पैदावार, वेकारी के अन्त, आर्थिक और सामाजिक समानता की प्राप्ति आदि की दिशा में आगे वढ़े, परन्तु यह प्रगति सहसा और सभी दिशाओं में तेजी के साथ हो सकेगी ऐसा सोचना भूल होगी। इसलिये हमको सावधानी के साथ यह सोचना होगा कि किन बातों को हम पहले लेवें और किनको वाद में, और किस प्रकार हम अपने प्राप्त साधनों का उपयोग अलग-अलग हालतों में करें।

देश की अर्थ-व्यवस्था में सुधार के लिये यह जरूरी है कि राज्य उस सुधार में महत्वपूर्ण भाग लेवे। संगठित उद्योगों की दिशा में निजी क्षेत्र के लोगों ने भी वड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है लेकिन निजी तौर पर उद्योगों का संचालन करने वालों को वहुत कुछ उन दशाओं के अन्दर रह कर कार्य करना होता है जो राज्य द्वारा निर्मित होती हैं। इसलिए किसी भी आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत निजी और राष्ट्रीय क्षेत्रों को एक ही संगठन के अंग के रूप में मिल-जुल कर काम करना होता है।

उदाहरणार्थ, खेती-वाड़ी का काम एक व्यक्ति के द्वारा अपने परिवार के लोगों की सहायता से चलाया जाता है, लेकिन खेती की पूरी-पूरी उन्नति राज्य के पर्याप्त सहयोग के विना नहीं हो सकती। राज्य को न सिर्फ सिंचाई, विजली, सड़क और संचार आदि की सुविधाएँ देनी होती हैं वल्कि लाभदायक वाजारों, टेक्नीकल सलाह और अन्य इसी प्रकार के कार्य करने होते हैं जिनसे कि खेतीबाड़ी का काम व्यक्ति और देश के लिए लाभदायक हो।

औद्योगिक क्षेत्र के लिए सरकारी नीति की घोषणा सन् १९४८ में औद्योगिक नीति सम्बन्धी बयान के द्वारा कर दी गई। उस नीति को लागू करने के लिए सन् १९५१ में उद्योग (विकास और नियम) कानून पास किया गया। निःसन्देह जहाँ तक उचित लाभ और प्राप्त साधनों के उचित उपयोग का प्रश्न है, निजी तौर पर संचालित उद्योगों का अपना स्थान है, लेकिन किसी भी आयोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निजी उद्योगपतियों को यह ध्यान में रखना है कि मजदूरों, पूंजी लगाने वालों और माल के खरीददारों के प्रति उनके कुछ कर्त्तव्य हैं और उन्हें ईमानदारी तथा कुशलता का उच्च स्तर कायम रखना है।

योजना के अनुसार आर्थिक व्यवस्था को बदलने के लिये यह जरूरी है कि हमारे देश में सहकारिता के ढंग पर बनाये गये संगठनों का तेजी से विस्तार हो। छोटे-मोटे उद्योगों, खेतीबाड़ी की उपज की बिक्री, रिआयती मकानों के निर्माण और थोक तथा फुटकर व्यापार की दिशा में सहकारिता का बहुत अधिक प्रसार हो सकता है और इसे बहुत ऊँची प्राथमिकता देनी होगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के संचालन के समय संस्थाओं के ढांचे में तब्दीली भी दो उद्देश्यों को सामने रखकर होगी: (१) योजना में वर्णन किये गये सामाजिक उद्देश्यों की ओर यथासम्भव बढ़ना, संगठन की उन्नति में रुकावटें पैदा करने वाली कमियों को दूर करना। खास करके भूमि की मिल्कियत और प्रबन्ध के मामले में बड़े-बड़े परिवर्तन करने होंगे जिससे खेतीहरों को ज्यादा से ज्यादा पैदावार बढ़ाने का उत्साह दिलाया जा सके। जमींदारियों के खात्मे के जरिए इस ओर कुछ काम हो भी चुका है। खेतीबाड़ी में और अधिक सुधारों के मामले में इस रिपोर्ट में सुझाव दिये गये हैं। आयोजित आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य यह भी है कि प्राप्त साधनों का पूरा-पूरा उपयोग इस प्रकार किया जाय जिससे अधिक से अधिक अच्छे नतीजे निकलें। यह बात बहुत कुछ मूल्य सम्बन्धी नीति के द्वारा की जा

सकती है। मूल्य, मुद्रा के प्रसार और आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रण में रखने के लिये कंट्रोल रखना जरूरी है।

आने वाले पांच वर्षों के लिये यह भी बता देना जरूरी समझा गया कि किन बातों को पहले किया जाय और किनको बाद में। योजना में यह कहा गया है कि कृषि को, जिसके अन्तर्गत सिंचाई और बिजली प्रोग्राम आते हैं, सबसे ऊँची प्राथमिकता मिलेगी। इसका कारण यह है कि पहले हमारी आर्थिक व्यवस्था को जड़ से मजबूत होना होगा। लेकिन साथ ही साथ राज्य को लोहा और इस्पात, भारी रसायनिकों, बिजली के यंत्रों और इसी प्रकार की अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं के उद्योगों का ध्यान भी रखना होगा।

—प्लानिंग कमिशन की रिपोर्ट से।

———

[३]

: सामाजिक क्षेत्र :

(१) हमारा सामाजिक जीवन
(२) समाजिक-हित
(३) तीन महान् आन्दोलन
(४) वर्ण-व्यवस्था का रहस्य
(५) परिवार-नियोजन की अहमियत

Family planing



: हमारा सामाजिक जीवन :

आज के हमारे जीवन में इतनी विशृंखलता और विपरीतता इसलिए है कि हममें सामाजिक कर्त्तव्य की अनुभूति क्षीण हो गई है। हमने व्यक्तित्व को समाज से अलग कर लिया है—सर्वथा अलग कर सकना तो संभव न था पर जितना हम कर सकते थे, हमने किया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो इतनी आकुलता दिखाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि हमने समझा ही नहीं है, कि दूसरों के, समाज के हित से व्यक्ति का हित विपरीत नहीं है। पूँजीपति ने अपना अलग वर्ग बना लिया है और धनार्जन की लिप्सा इतनी बढ़ाली है कि दूसरे लोग दिन-दिन दीन-हीन होते जाते हैं। धनिक वर्ग यह भूल जाता है कि यह परम्परा अन्त में उसे ही खा जाने वाली है। ज्यों-ज्यों दूसरे गरीब होते जाते हैं, उनकी क्रयशक्ति का लोप होता जाता है, व्यापारी धनिक का कारबार भी उसी अंश में नष्ट हो रहा है। जमीदार किसान की गरीबी पर कब तक पनप सकता है?

सामाजिक दृष्टि से विचार करें तो यह विषम अवस्था घातक, अवांछनीय और अप्राकृतिक है। एक ओर लाखों मनुष्य भूख की पीड़ा से मर जाते हैं, पोषक द्रव्यों के अभाव में मानव जाति के हजारों लाखों बच्चे निर्जीव, कंकालवत् हो रहे हैं, कितने ही आवश्यक औषधियों का प्रबन्ध न कर सकने के कारण मर जाते हैं, जो बचते हैं उनका जीवन निराश, निरानन्द और स्वादहीन है। विश्व की कोटि-कोटि जनता अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर पाती। माताओं के स्तन सूख गये हैं। दूसरी

ओर खाद्य द्रव्य नष्ट हो जाते हैं, अधिक खा-खाकर पेटू लोग मरते और बीमारियों के शिकार होते हैं। कुछ के पास इतना फालतू धन है कि उन्हें सूझता नहीं कि उसका क्या किया जाय? बैंकों में या तिजोरियों में पड़े करोड़ों फालतू रुपये सामाजिक दृष्टि से नष्ट धन की कोटि में हैं; दुनिया के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। और ये ही रुपये हैं जिन्होंने राष्ट्र और समाज के कोटि-कोटि बच्चों का पौरुष छीन लिया है; उन्हें नंगा, भूखा, अशिक्षित रख छोड़ा है; उनके जीवन को विकृत कर दिया है और फलतः मानव जाति को सामूहिक दृष्टि से निर्बल कर रखा है।

जब विश्व के एक देश में लाखों आदमी भूख की पीड़ा से मर रहे होते हैं, अन्यत्र भावों को न गिरने देने या मूल के नियन्त्रण के लिए अन्नराशि दबा ली जाती या नष्ट करदी जाती है; जब प्राणी कपड़े के अभाव में व्याकुल घूमता है, परेशान है, तब चोर-बाजार में कपड़ा भरा पड़ा है। मानवजाति ने शिक्षा और बुद्धि के क्षेत्र में इतनी उन्नति करके भी अपने को क्या बना लिया है? मनुष्य मनुष्य को लूट रहा है।

इस दुःखद स्थिति का कारण यही है कि हममें केवल निजी स्वार्थ-साधन की भावना प्रबल हो गई है, हमारा निजस्व संकुचित हो गया है। हम चाहते हैं कि हमारे पास अथाह धनराशि हो, चाहे दूसरे उसके कारण खाये बिना मरें। धन-संचय की अस्वाभाविक स्पृहा का यही कारण है। सामाजिक कल्याण की भावना दब गई है। दृष्टि संकुचित हो गई है। हम भूल गये हैं कि एक फालतू रुपया, जो हमारी तिजोरी में आता है, दूसरी जगह किसी न किसी का पेट काट कर आता है। टाल्सटाय ने इस स्थिति पर विचार करते हुए ठीक ही लिखा है कि करोड़ों नंगों, अधभूखों के सामने होते धनी मनुष्य अपनी स्थिति और धनार्जन की प्यास पर विचार करे तो अपने लिए केवल लज्जित हो सकता है।

इस दुःखद सामाजिक स्थिति का परिणाम यह हुआ कि समाज में वर्ग भावना बढ़ रही है। एक वर्ग का हित दूसरे वर्ग के विरुद्ध है, पूंजीपति के

रहते श्रमिक सुख की साँसें नहीं ले सकता, इस प्रकार की विचारधारा प्रवल हो जाती है। पारस्परिक कटुता वढ़ती है; संघर्ष होते हैं; युद्ध होते हैं; शक्ति का क्षय और विनाश होता है।

यदि मनुष्य सामूहिक कल्याण का विचार करे, अपने हित और दूसरों के हित, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्वन्ध का ध्यान रखे तो संसार से इस दुःखद स्थिति का अन्त हो सकता है। प्रकृति हमारे पालन-पोषण के लिए प्रचुर सामग्री हमें देती है। यदि हम अपना पेट भरें पर दूसरों के पेट भरने में वाधा न दें, यदि हम स्वयं जियें पर दूसरों को भी जीने दें तो पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है। वस्तुत: अर्थ ही, जो जीवनका ध्येय वन गया है, के कारण मानव अपने उच्चासन से गिर गया है। अर्थ जीवन की एक आवश्यकता है—एक वड़ी आवश्यकता है पर वह जीवन का ध्येय नहीं है। वह जीवन के लिए है पर आज जीवन उसके लिए हो गया है।

इस विषम स्थिति से निकलने के लिए समाजशास्त्री तरह तरह के हल वताते हैं। कहा जाता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय अर्थात् उत्पादन के बड़े-बड़े साधनों पर प्रजा-द्वारा बनी सरकार का कब्जा हो; श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी, जीवन-वेतन, विश्राम, शिक्षण, चिकित्सा, आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की जाय; समाज की विभिन्न श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं की आय के बीच बहुत अधिक विषमता न हो; प्रत्येक वच्चे को, प्रत्येक नागरिक को विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त हों; उत्पादन और वितरण के साधनों पर कुछ व्यक्तियों का नहीं, समाज का सामूहिक अधिकार हो।

कोई विवेकवान व्यक्ति इन उपायों का विरोध नहीं कर सकता। इनके उचित रूप में कार्यान्वित किये जाने से निश्चत ही विषमता कम हो सकती है पर इन सबकी वास्तविक सफलता उस मनोवृत्ति पर निर्भर करती है जिसके साथ इन उपायों पर आचरण किया जायेगा। मनुष्य के जितने कार्य हैं सब उसकी मनोवृत्तियों के प्रतीक व अभिव्यक्ति-मात्र हैं।

यदि मानव का मानसिक धरातल ऊँचा न हुआ, यदि उसमें दूसरों के हित की भावना न आई, यदि उसमें स्वार्थ की भावना प्रवल वनी रही तो कोई उपाय कैसा ही अच्छा हो अन्त में दूसरे दूषणों की सृष्टि करेगा और अपने उद्देश्य की सिद्धि में कभी सफल न हो सकेगा। इनकी सफलता मनुष्य के नैतिक विकास पर निर्भर है। सामाजिक नीति, सामाजिक सदाचरण की दृष्टि जव तव हममें न आयेगी हमारे दुःख वने रहेंगे। जब व्यक्ति अनुभव करेगा कि उसका दुःख-सुख समाज के सामूहिक दुःख-सुख पर निर्भर है; जव व्यक्ति समझेगा कि वह जो सुख भोगता है उसमें दूसरों की देन है, जो सुविधाएँ वह उठा रहा है वह मानव जाति के समष्टिगत प्रयत्न तथा पूर्वकाल के व्यक्तियों के श्रम का परिणाम हैं तव वह केवल अपने विषय में न सोचकर दूसरों के विषय में भी विचार करेगा और केवल अपना हित न देखकर दूसरों का हित भी देखेगा—यों भी कह सकते हैं कि तव वह दूसरों के हित मेंअपना हित देखेगा।

स्वयं जीना मनुष्य का अधिकार है किन्तु दूसरों को जीने देना उसका कर्त्तव्य है। मनुष्य यह चाहता है कि उसके अधिकारों की रक्षा हो परन्तु सामूहिक अधिकार-रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह दूसरों के अधिकारों पर कुठाराघात न करे, वल्कि उनकी रक्षा भी करे। समाज में आज जो विषमता है, संसार में आज जो अशान्ति है वह चाहे छोटे क्षेत्र में हो, या वड़े क्षेत्र में, गाँव में हो या देश में, सवका कारण मनुष्य की—व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के रूप में अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा है। हममें से प्रत्येक अधिकार तो चाहता है, अधिकारों की रक्षा तो चाहता है किन्तु कर्त्तव्यों और जिम्मेदारियों से भागता है, अपने पड़ोसी, अपने समाज, अपने ग्राम, नगर, प्रान्त, देश और संसार के दूसरे राष्ट्रों के अधिकारों की उपेक्षा करता है! इसलिए समाज आज इतनी विषम स्थिति में आ पड़ा है।

व्यक्ति की यह अत्यधिक स्वार्थपरता तथा समष्टिहित के प्रति उसकी उदासीनता ही आज सामाजिक विषमता का मूल कारण है। हमारे

सामाजिक जीवन लुप्त हो गया है। हम केवल अपने लिए जीते हैं। व्यक्ति और समष्टि के इस संघर्ष को दूर करना ही समाज की सच्ची सेवा है। दोनों के हितों के समन्वय से ही मानवता की सच्ची उन्नति संभव है। व्यक्ति को अपना जीवन ऊँचे स्तर पर ले जाना होगा। उसे समाज-हित के लिए स्वार्थ-त्याग करना होगा। उधर समाज को व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए सामूहिक सम्बन्धों में ईमानदारी, प्रेम और सहयोग-भाव को अपनाना होगा।

✕ ✕ ✕ ✕

हमारे देश में तो स्थिति और भी विषम है। हम तो साधारण नागरिक-कर्त्तव्यों को भी भूल गये हैं। अगणित विभेदकारी बन्धनों ने हमें सत्वहीन, निर्जीव कर रखा है। सारा जीवन व्यक्तिगत समस्याओं और प्रश्नों को निवटाने में ही समाप्त हो जाता है। समाज के प्रति हम अपने कर्त्तव्यों से सर्वथा उदासीन दिखाई पड़ते हैं। जिस हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की रचना ही व्यक्ति और समष्टि के हितों के समन्वय पर हुई थी, जहाँ पहली आधी उम्र में समाज से ग्रहण और दूसरी आधी उम्र में समाज को दान, आत्मार्पण की व्यवस्था थी तहां समस्त जीवन अत्यन्त निजी, स्वार्थ-पंकिल हो गया है। जहाँ दूसरों के हितों के अपने संकुचित हितों का संघर्ष होता है तहाँ हम साधारण ईमानदारी को भी भूल जाते हैं।

हमें इस हीनावस्था से ऊपर उठना होगा। हमें निजी स्वार्थों पर अंकुश रखना होगा। जबतक हम उस प्राचीन ऋषिवाणी का सन्देश न ग्रहण करेंगे जिसमें कहा गया है—सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें, तबतक सामाजिक संघर्ष और विषमताएं बनी रहेंगी।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

: सामाजिक हित :

दर असल सामाजिक भलाई है क्या ? मैं तो इसे समाज की खुशहाली ही समझता हूँ। यदि ऐसा है तो इसमें वे सभी चीजें आ गई जो एक व्यक्ति सोच सकता है—आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। इस तरह यह प्रश्न मानव-कार्य-प्रणाली और मानव-सम्बन्ध के सारे क्षेत्र को ढँक लेता है। फिर भी यह व्यापक अर्थ कभी इसके साथ लगाया नहीं जाता और हम इन शब्दों को बहुत ही अधिक सीमित अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता या कार्यकर्त्री अधिकतर अपने को ऐसे कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए समझते हैं, जो राजनैतिक कार्य और आर्थिक सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। वह पीड़ित मानवता को राहत पहुँचाने की चेष्टा करेंगे, रोग और गन्दगी के खिलाफ जिहाद करेंगे, बेकारी और वेश्यावृत्ति को मिटाने की कोशिश करेंगे। वर्तमान अनीति में कमी कराने के लिये वे न्याय में भी परिवर्तन कराने का प्रयत्न करेंगे, पर वे समस्या के मूल तक कभी न जायँगे, क्योंकि वर्तमान समाज के स्वरूप को जैसे-का-तैसा स्वीकार कर वे उसके महान अन्यायों को हलका करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

हमें उस महिला पर ग़ौर करने की जरूरत नहीं जो यदाकदा गन्दी बस्तियों में जाकर दान-पुण्य आदि करके अपनी अन्तरात्मा को हलका करना चाहती है। समस्या पर इस तरह ग़ौर करने वाले जितने भी कम मिलें उतना ही अच्छा है; पर ऊपर जिस संकुचित रास्ते का वर्णन किया

जा चुका है, उसी तरह अपने सहयोगियों की सेवा में लगे हुए आदमियों की संख्या काफ़ी है। वे काफ़ी अच्छा काम करते हैं और उससे वे दूसरों को चाहे विशेष लाभ पहुंचाएं, या न पहुंचाएं, स्वयं वे अनुशासन में दक्ष हो जाते हैं।

पर मुझे यह मालूम होता है कि इस अच्छे काम का ज्यादा हिस्सा बरबाद हो जाता है, क्योंकि यह तो समस्या की सतह को ही स्पर्श करता है। सामाजिक कुरीतियों का एक इतिहास और एक पृष्ठ-भूमि है। उसकी जड़ हमारे अतीत में है और हम जिस आर्थिक ढांचे के अन्दर निवास करते हैं उससे उसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। उनमें से कई तो उसी आर्थिक प्रणाली के स्पष्ट परिणाम हैं और अन्य कई धार्मिक कट्टरता और हानिप्रद रीति-रस्मों से पैदा हुए हैं। अतः सामाजिक भलाई की समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने में हम अनिवार्यतः बुराइयों की जड़ों में पहुँच कर उनका सबब जानने की कोशिश करेंगे। हम में सत्य के गहरे कूप में देख सकने और साफ़-साफ़ कह सकने का साहस होना चाहिए। अगर हम धर्म, राजनीति और अर्थशास्त्र को नजरअन्दाज करें तो हम सतह पर ही रहेंगे और हमें न तो आदर ही हासिल होगा और न उसका कोई परिणाम ही हो सकेगा।

लगभग दो वर्ष से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण समिति से मेरा सम्बन्ध रहा है और मेरे अन्दर यह विश्वास पैदा होता गया है कि किसी भी समस्या को अलग कर के उसका हल निकाल सकना सम्भव नहीं है। सभी समस्याएं साथ सम्बद्ध हैं और वे ज्यादातर आर्थिक ढांचे पर आश्रित हैं। सीमित अर्थ में यही बात सामाजिक समस्याओं पर भी लागू होती है। हाल ही में निर्माण-समिति ने अपनी उप-समिति की उस रिपोर्ट पर विचार किया था, जिसमें राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महिलाओं के स्थान के बारे में चर्चा की गई थी। इस उप-समिति ने सामाजिक समस्याओं पर अच्छी तरह ग़ौर किया था। अपने कार्य के दौरान में उसे बराबर राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक पहलुओं का सामना करना पड़ता था।

यह कह सकना सरल नहीं है कि रक्षित धार्मिक या रक्षित आर्थिक स्वार्थों में किस पर ग़ौर करना अधिक मुश्किल है। ये दोनों ही स्वार्थ स्थिति को ज्यों-का-त्यों रखने के पक्ष में है और परिवर्तन के विरोधी हैं। इस तरह एक सच्चे सुधारक का काम दरअसल बहुत जटिल है।

इसके पहले कि हम किसी विशेष सुधार का प्रारम्भ करें, यह निहायत जरूरी है कि हम यह समझ कि हमारा उद्देश्य क्या है और हम किस प्रकार के समाज की स्थापना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि अगर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी बालिगों को काम और सुरक्षा का आश्वासन हो, जिसमें युवकों के लिए शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो, जिसमें जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं का व्यापक वितरण हो और जिसमें आत्मिक विकास के लिए किसी अंश तक आजादी हो तो यह स्वयं हमारी कई समस्याओं को सुलझा देगी और उससे तत्काल बुराइयों की कमी हो जायगी और मानव-सम्बन्धों में कहीं अधिक बेहतर सामंजस्य स्थापित हो जायगा।

इसलिये जरूरत इस बात की है कि इस समस्या पर सभी मोरचों द्वारा हमला किया जाय और सम्भव है कि तथाकथित धार्मिक मोरचे पर सबसे बड़ी तकलीफ़ सामने आकर खड़ी हो। जहाँ तक धर्म का ताल्लुक है उसके स्पर्श करने की जरूरत नहीं, पर ऐसे अनेक नियम और उपनियम हैं, जिन्हें धार्मिक स्वीकृति मिली हुई है। उन पर जब किसी प्रकार की आँच आती दिखाई देगी तो धर्म के ठेकेदार बड़ा गम्भीर विरोध करेंगे। विरासत, ब्याह और तलाक को विभिन्न सम्प्रदायों के जाति-क़ानून का अंग समझा जाता है और इसी व्यक्तिगत कानून को धर्म का अंग समझा जाता है। यह साफ़ है कि ऊपर से किसी प्रकार का परिवर्तन समाज पर लादा नहीं जा सकता। इसलिए तत्कालीन सरकार का यह फ़र्ज होगा कि वह जनमत को इस तरह शिक्षित करे कि वह आने वाले परिवर्तनों को स्वीकार कर ले।

सन्देह को दूर करने के लिए यह साफ़ तौर पर बतला दिया जाना चाहिये कि कोई भी परिवर्तन जनता के किसी तबके पर बिना उसकी मर्जी

के जबरन न लादा जायगा। इससे कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और कानून के अमल करने में किसी प्रकार की एकरूपता की स्थापना न हो सकेगी, पर साथ ही दूसरा रास्ता यानी परिवर्तन को जबरन लाद देना तो और भी कई दुर्भावनाओं को पैदा कर देगा।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि सारे हिन्दुस्तान के लिए एक नागरिक कानून-प्रणाली होनी चाहिये। सरकार को इसके लिये प्रचार जारी रखना चाहिए। एक बड़ी भारी जरूरत इस बात की है कि किसी भी धर्म के व्यक्तियों को बिना अपना धर्म त्याग किए हुए शादी करने की आज्ञा दी जाय। वर्तमान सिविल मैरिज कानून में यह सुधार होना चाहिए।

तलाक के कानून की हिन्दुओं के लिए बड़ी सख्त जरूरत है। हम चाहते हैं कि परिवर्तन ऐसे हों जो पुरुषों और स्त्रियों दोनों पर लागू हों। हम यह भी चाहते हैं कि सदियों से दोहरे बोझ के नीचे पिसनेवाली महिलाओं को इन परिवर्तनों से लाभ पहुँचे। हमें चाहिये कि स्त्री और पुरुष के बीच हम प्रजातन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने नागरिक कानूनों और समाज में उचित सुधार करें।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

: तीन महान् आंदोलन :

भारतीय जीवन में तीन आंदोलन मेरे खयाल से ऐसे हैं, जिनमें राष्ट्र ने अपने दृढ़ संकल्प को व्यक्त किया है। पहला था, अस्पृश्यता-निवारण, दूसरा शराब-बंदी और तीसरा है, भूदान-आंदोलन।

ये तीनों अपनी सफलता के लिए राष्ट्र-व्यापी नैतिक अपील पर निर्भर रहे और खयाल था कि बाद में इस सफलता पर कानून की मुहर लगा कर उसे स्थायी रूप दिया जाय।

पर जबतक शराब-बंदी का आंदोलन अपरिपक्व स्थिति में था, तबतक उसे कानून का रूप देने की सलाह गांधीजी ने कभी नहीं दी। उन्होंने तभी आग्रह किया, जब राष्ट्र की अधिकांश जनता उसकी हिमायती बन गई थी। यह तो उन्होंने नहीं माना था कि इस सुधार को कानूनी रूप देकर सरकारी तंत्र के हाथ में सौंपने के बाद तुरंत ही जनता का नैतिक उत्साह ठंडा हो जायगा।

सामाजिक सुधारों का काम कुछ अलग बुनियाद पर खड़ा होता है, यह बात शायद हम लोग समझ नहीं पाये हैं। 'बाकी सब कुछ' कानून करेगा, ऐसी अपेक्षा हम नहीं रख सकते। हां, कानून राष्ट्र की संकल्प-शक्ति की बहुत-कुछ मदद जरूर कर सकता है लेकिन संकल्पशक्ति को, नैतिक उत्साह को अपने काम से कभी नहीं रुकना चाहिए। यह तो प्रवाह के विरुद्ध नाव खेने जैसा है।

भारतीय संस्कृति हमेशा शराब-बंदी के पक्ष में रही है। यहां नीचे की ओर खिंचाव उतना नहीं है, जितना कि अमेरिका में। प्रवाह का ज़ोर लंगर को उखाड़ नहीं देगा, फिर भी मुकाम पर पहुंचने तक नाविकों के मजबूत हाथ अगर डांड न मारते रहें, तो कुछ भी प्रगति नहीं होने वाली है।

अस्पृश्यता-निवारण का संविधान द्वारा मंजूर किया जाना उस आंदोलन की पराकाष्ठा थी। पर संसार को प्रभावित करने वाली हमारी इस सफलता ने लोगों का नैतिक उत्साह फीका कर दिया। अतः हरिजन-सवर्ण के बीच की खाई तब तक नहीं पट सकती, जब तक लोगों का नैतिक उत्साह समाज-सुधारक जीवित नहीं रखते।

शराब-बंदी के महान् सुधार के बारे में यही करना पड़ेगा। यह एक नैतिक आंदोलन है और कानून का आधार होते हुए भी इसी रूप में चलाया जाना चाहिए।

आज प्रश्न यह है कि अपने देश के संस्कारी, धनी और सुखी लोगों को कैसे जाग्रत करें? वे लोग, जो केवल पैसों के पीछे पड़े रहते हैं, न सुख भोगते हैं, न संस्कारी बनते हैं। उनको किसी समय जाग्रत किया जा सकता है, क्योंकि वे लोग यह तो महसूस करते हैं कि उनके जीवन में बहुत-सी त्रुटियां हैं। लेकिन जो लोग धनी हैं और साथ ही संस्कारी भी हैं, वे अपने जीवन पर इतने खुश रहते हैं कि फिर उनको झक-झोरकर जगाना भी मुश्किल होता है। अच्छे और सच्चे राष्ट्र-सेवकों की वे लोग समय-समय पर कदर भी कर सकते हैं। अच्छे कामों को पहचान कर उन कामों के लिए दान भी देते हैं। वे सिर्फ उस विराट सामाजिक अन्याय को समझ नहीं सकते, जिसके कारण उनका धनी, सुखी और संस्कारी जीवन निभता है।

रूस में भीषण सामाजिक क्रांति हुई। इससे शिक्षा लेकर अनेक देशों ने समाज-सत्तावादी राज्य-व्यवस्था अपनाई। रूस की विचार-पद्धति दुनिया में फैलती देखकर अमरीका कांपता है।

अब दूसरी ओर दुनिया की पिछड़ी हुई जातियां विप्लव की तैयारियां कर रही हैं। अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया, जहां देखो वहां सामाजिक मंथन चल रहा है। हमारे यहां 'भूदान-यज्ञ' शुरू हुआ है। यह कुछ सुखी लोगों के दान का प्रकार नहीं है। सवाल यह है कि हम इस यज्ञ के द्वारा होने वाली क्रांति के अगुआ या साथी होंगे कि शिकार ?

यह आंदोलन भी जरूर जोर पकड़ने वाला है। इस बात में भी कोई संदेह नहीं है कि समय के अनुकूल होते ही राष्ट्र आवश्यक कानून भी बना देगा। फिर भी भूदान-आंदोलन के पीछे जो सर्वोदय की चेतना है, उसे अपना काम करते ही रहना चाहिए।

—श्री काका कालेलकर

———

: वर्ण-व्यवस्था का रहस्य :

आज तो मैंने यह सोचा है कि आपके सामने थोड़ी-सी बात अपनी समाज-रचना की रख दूं क्योंकि मैं देख रहा हूं कि यहां बीकानेर का वातावरण काफी पिछड़ा हुआ है। आज बाहर जो चीज चल रही हैं। वे यहां काफी अपरिचित-सी मालूम होती हैं। हिंदूधर्म में जो वर्णव्यवस्था की गई थी उसका उद्देश्य मैं आपके सामने रख देना चाहता हूं। हम जानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हिंदूधर्म में बहुत प्राचीन काल से है; लेकिन वह अनादि नहीं है। अहिस्ता-अहिस्ता बनी है। उपनिषदों में इसका इतिहास मिलता है। वहाँ आया है कि आरंभ में केवल एक ही वर्ण—ब्राह्मण था अर्थात् समाज वर्णों में विभाजित नहीं था। सब काम एक ही व्यक्ति, जो ब्राह्मण कहलाता था, किया करता था। लेकिन जब उससे अकेले काम न चला तो मदद के लिए एक दूसरे वर्ण—क्षत्रिय का निर्माण हुआ। आगे अनुभव से मालूम हुआ कि दो वर्णों से भी सारा काम नहीं हो पाता, तो वैश्य का वर्ण बना; और जब इनसे भी सारा काम न बन पाया तो चौथा शूद्रों का वर्ण बना। शूद्र के लिए उपनिषद् में वचन आया है कि वह सबका पोषण करने वाला है। "शौद्रं वर्ण असृजत पूषणम्" यानी पोषण करने वाला। इस चीज को समझने के लिए देवों का दृष्टांत लेकर उनके भी चार वर्णों का वर्णन किया गया है, जिसमें अग्नि को ब्राह्मण, इन्द्र को क्षत्रिय, रुद्रादि संघ करके रहते हैं इसलिए उन्हें वैश्य और धरती, क्योंकि वह सबका पोषण करती है, उसे शूद्र कहा गया है।

इस दृष्टांत से आप समझ लेंगे कि शूद्रों के प्रति उस समय अनादर नहीं बल्कि अत्यन्त उच्च भावना थी। धरती को हम माता मानते हैं इसलिए पर्याय से शूद्रों के लिए माता का ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। वृहदारण्यक में भी इस विषय को समझाते हुए बताया है कि समाज में कोई ऊँच-नीच नहीं है, सब लोग समाज के सेवक हैं। गीता में अगर यह होता कि कोई ऊंच और कोई नीच समझा जाय, तो गीता जैसी आज बनी है न बनती। गीता में बताया है कि हरेक वर्ण अपना-अपना काम करे और निष्काम भाव से करे, ताकि मोक्ष पा सके। किसी काम को गीता ने छोटा या बड़ा नहीं माना है। मोक्ष के लिए हृदय का विशुद्ध होना जरूरी है। ब्राह्मण के पास हृदय-शुद्धि के लिए बुद्धि है, वैश्य लोक-सेवा द्वारा उसी तरह मोक्ष का समानाधिकारी बन जाता है। अगर एक भंगी सफाई का काम प्रामाणिकता से करता है, उस काम में उसका भगवान की पूजा का भाव रहता है तो वह भी मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् शुद्ध हृदय से और निष्काम भाव से काम करने वाला ब्राह्मण हो या शूद्र, या अन्य किसी वर्ण का, मोक्ष के सब समान अधिकारी हैं। इतना ही नहीं अगर ब्राह्मण अपना काम नहीं करता है और भंगी अपना काम ठीक-ठीक करता है तो वह प्रामाणिक भंगी ब्राह्मण की अपेक्षा उच्च माना गया है। भागवत में भी लिखा है कि—

विप्राद द्वि षड्-गुण-युताद् अरविंद-नाभ-पादारविंदविमुखात् श्वपच वरिष्ठम्।

जिस ब्राह्मण में अध्ययन-अध्यापन आदि के बहुत से गुण होते हुए भी अगर परमात्मा की भक्ति नहीं है तो उससे चण्डाल भी श्रेष्ठ है सब का सार यही है कि वर्ण-योजना में ऊंच-नीच का भाव नहीं था। परन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण और क्षत्रिय तो ऊंच रह गए और बाकी सब नीच। उनमें भी वैश्यों ने धीरे धीरे खेती का काम छोड़ दिया और वह भी शूद्रों पर ही आ पड़ा।

इस तरह शूद्र इतने महान बन गए कि खेती, गो-सेवा, सफाई आदि सब काम उन पर ही आ गये, बाकी के सब लोग अलग रह गए। फल यह हुआ कि प्रत्यक्ष कारीगरी या शरीर का काम करनेवाले नीच समझे जाने लगे। जब से यह होने लगा दिन-ब-दिन हिंदूधर्म का भी पतन होने लगा; हजारों लोग हिन्दूधर्म को छोड़ गए और देश गुलाम बन गया।

रोमन साम्राज्य का पतन भी इसीलिए हुआ था कि वहाँ जो लोग हाथों से काम करते थे वे नीच माने जाने लगे थे। यही बात हिन्दुस्तान में भी हुई। हिन्दुस्तान से कारीगरी का नाश और विज्ञान का लोप तब ही से हुआ, नहीं तो प्राचीन काल में यहाँ विज्ञान की खूब प्रगति हो चुकी थी। विज्ञान तभी बढ़ता है जब बुद्धिमान लोग प्रत्यक्ष काम करते हैं, उद्योग करते हैं। यहाँ तो ब्राह्मणों तथा अन्य उच्चवर्णियों ने काम करना छोड़ दिया था इसलिए कारीगरी के काम में बुद्धि का प्रवेश बंद हो गया इसलिए यहाँ विज्ञान प्राचीन काल में जितना विकसित हुआ था, बस उतना ही होकर रह गया।

हिन्दुस्तान में स्त्रियों की जैसी प्रतिष्ठा थी वैसी और कहीं नहीं थी परन्तु वे भी हीन समझी जाने लगी क्योंकि उन्हें रसोई आदि मजदूरी के काम करने पड़ते थे। एक जमाना था जब मनु ने लिखा था कि गुरु से पिता व पिता से माता अनेक गुना महान् होती है। ऐसी महान् उस स्त्री-जाति को भी हीन समझा जाने लगा।

इस सब का मतलब यही है कि जबसे शरीर-परिश्रम को नीच समझा गया तब से समाज व्यवस्था बिगड़ गई, अर्थ-व्यवस्था बिगड़ गई, स्वराज्य का लोप हुआ, विज्ञान का लोप हुआ और धर्म का भी लोप हो गया।

अगर आप इस बात को समझ गए हैं तो आप खुश होंगे कि यहां के कार्यकर्त्ता भंगी-बस्ती में जाकर सफाई करते हैं। जयपुर-काँग्रेस में आप

देखेंगे कि आपके प्रांत के अच्छे-से-अच्छे नेता इस काम को कर रहे हैं। फैजपुर-कांग्रेस में सफाई का काम वहां के प्रतिष्ठित लोगों ने ही अपने हाथ में लिया था। अर्थात् समाज के अच्छे लोग आज इस काम को अभिमान और गर्व के साथ करने लगे हैं। सब जगह ऐसा होगा कि देश भी आगे बढ़ेगा वरना उन्नति की आशा ही नहीं रखनी चाहिए।

इसलिए हमें अब इस काम को उठाना है। उसमें सुधार भी करना है। आज का भंगी-काम इतना गन्दा है कि मैं भी उसे आसानी से नहीं कर सकता। मैंने जो भँगी-काम किया है वह देहातों में किया है। देहातों में इतनी गन्दगी नहीं होती। हम इस काम में पड़ेंगे तो इसमें सुधार हो सकेगा। ब्राह्मणों को ऐसे काम नहीं करने चाहिए यह ख्याल गलत है। इससे तो वर्ण-धर्म का अज्ञान ही प्रगट होता है। ब्राह्मणों का काम विद्या सीखना और सिखाना है; यानी देश में जो उद्योग गिर गए हों उनको पुनर्जीवित करने के लिए यह जरूरी है कि ब्राह्मण स्वयं उनका शिक्षण लें और औरों को दें। द्रोणाचार्य स्वयं क्षत्रिय नहीं थे फिर भी उन्होंने धनुर्विद्या सीखी और सिखाई। इस तरह देश में जो धंधा गिर गया हो या विगड़ गया हो, ब्राह्मणों का काम है कि वे उसे उठावें। अगर बुनाई का काम बिगड़ गया है, चमड़े का काम नष्ट हो रहा है या भंगी-काम को दुरुस्त करने की आवश्यकता है तो इन सबको अच्छी तरह करने के लिए ब्राह्मणों का काम है कि वे स्वयं उसमें प्रवेश करें। यह सब मैंने विस्तारपूर्वक इसलिए बताया है कि अगर हिंदू-धर्म का भला होना है तो इस पर गंभीरता से विचार करना होगा।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस वहुत सवेरे उठकर कई दफ़ा बस्ती के पाखाने साफ़ कर दिया करते, पूछने पर बताते कि अहंकार को कम करने के लिए, नम्र होने के लिए मैं ऐसा करता हूँ—यानी भंगी काम को वे एक साधना समझते थे। गाँधीजी ने भी इसे किया। अनेक महापुरुष इस

तरह करते आए हैं और इसीलिए धर्म उज्ज्वल रहा है। हिंदू समाज गीताकार कृष्ण को उतना नहीं जानता जितना गोपाल कृष्ण को। गोपाल-कृष्ण का नाम लेते ही गायों की सेवा करने वाले कृष्ण का चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। हिंदू धर्म के महापुरुषों ने इसी तरह सदा सेवा का काम किया है और इसलिए हिंदू धर्म उज्ज्वल रहा है।

—संत विनोबा भावे

: परिवार—नियोजन की अहमियत :

परिवार-नियोजन के बारे में किसी के कुछ भी विचार क्यों न हों, कम-से-कम मैं तो यह महसूस करता हूँ कि हमें सभी दृष्टियों से इस पर बड़ी गम्भीरता से ग़ौर करना चाहिए। इसके लिए हमें सिर्फ दो बातों का ध्यान रखना चाहिए: एक तो यह कि हमारा रास्ता विज्ञान का हो; और दूसरा यह कि हमारा मक़सद समाज की भलाई हो। पर किसी भी वैज्ञानिक मार्ग को अपनाने से पहले यह निहायत ज़रूरी है कि हमारे मन में किसी प्रकार का डर या शक-शुबहा न हो। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि इस मार्ग को अपनाने से आदमियों पर क्या असर पड़ेगा और कैसी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ होंगी। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने काफ़ी उदारता और खुले दिमाग से ग़ौर किया है और वह हर्गिज़ नहीं चाहती कि इस बारे में किसी तरह की तंगदिली या और किसी तरह की बन्दिश से काम लिया जाय। इसीलिए इसने ख़ास उपाय या रास्ते को अपनाने की बात नहीं कही है, हालाँकि वह कुछ ख़ास तरह के प्रयोगों को प्रोत्साहन देना जरूरी समझती है।

बढ़ती हुई आबादी का परिणाम

और किसी मुल्क के मुकाबले में हिन्दुस्तान—जहाँ काफ़ी बड़ी आबादी है और वह मुतवातिर बढ़ती ही जा रही है—के लिए इसकी अहमियत कहीं ज्यादा है। इसलिए यहाँ इस मसले का पूरी तरह अध्ययन किया जाना चाहिए और फिर उन उपायों को काम में लाना चाहिए, जो स

दृष्टियों से मौजूँ हों। मैं उन लोगों से इत्तफ़ाक़ नहीं करता, जो यह समझते और कहते हैं कि इस मुल्क की सारी बुराइयों की जड़ अधिक आबादी ही है। मैं इस बात का हामी तो ज़रूर हूँ कि माकूल तरीकों से हिन्दुस्तान की बढ़ती हुई आबादी को महदूद करने की कोशिश की जाय, पर मैं यह नहीं सोचता कि मुल्क की सारी सामाजिक और अर्थ-नीतिक समस्याएँ महज़ इसी से हल हो जायँगी। हाल ही में ब्रिटेन की विज्ञान-परिषद् के अध्यक्ष ने—जो एक प्रतिष्ठित और सुयोग्य विज्ञान-वेत्ता हैं—कहा है कि विज्ञान की मदद से बीमारियों की संख्या ज्यों-ज्यों कम होती जा रही है, त्यों-त्यों आबादी बढ़ रही है। उनका कहना है कि इससे हमारे सामने नई-नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं—जैसे दरिद्रता—और खासतौर से कम उन्नत मुल्कों में। तब क्या इससे यह समझा जाय कि भविष्य में विज्ञान बीमारियों का मुकाबला कर सकने की तरफ से मुँह मोड़ लेगा?

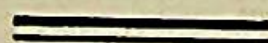
आबादी बनाम उत्पादन

लेकिन विज्ञान का एक दूसरा और कठोर पहलू भी है। वह बड़े पैमाने पर होने वाले नाश का सामान तैयार करता और उसका मुकाबला भी करता है। इसलिए ब्रिटेन के विज्ञान-वेत्ता ने ऊपर जो चेतावनी-सी दी है, वह उस वक्त तक तो ज़रूर विचारणीय है, जब तक कि हम इस मसले का कोई सामाजिक हल न ढूंढ़ निकालें। और हकीकत यह है कि इसके सामाजिक उपाय हो सकते हैं और हैं। हाँ, इन्सान की ज़िन्दगी की सबसे बड़ी आवश्यकता अनाज और दूसरी चीज़ों को पैदा करने की कोई सीमा नहीं है, बशर्ते कि उसे ठीक ढंग से किया जाय। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान की आबादी काफ़ी घनी है; लेकिन वह उतनी घनी नहीं है, जितनी कि यूरोप के कई मुल्कों की, जिनके रहन-सहन का स्तर हमसे ऊँचा है। असली सवाल तो है प्रति व्यक्ति पीछे अधिक उत्पादन और उसका उचित विभाजन।

रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो

इस समस्या का एक दूसरा वड़ा दिलचस्प पहलू भी है। कुछ विज्ञान-वेत्ताओं का खयाल है कि गरीवी, भुखमरी और कम पोषण मिलने से स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति की क्षमता वढ़ जाती है, जिसकी वजह से आवादी मौत की संख्या के औसत से ज्यादा वढ़ जाती है। यह दलील शरीर-विज्ञान के खयाल से दी जाती है। अगर ऐसा ही है, तो आवादी को महदूद रखने के लिए यह जरूरी है कि रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया जाय और भुखमरी तथा पोषण की कमी न होने दी जाय। मैंने इन समस्या के जिन हलों का ज़िक्र ऊपर किया है वे पेचीदा ज़रूर हैं, जव कि ज्यादातर लोग इसको वहुत आसान रास्ते से ही देखना पसन्द करते हैं।

—पं० जवाहरलाल नेहरू



{४}

: धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्र :

(१) सब धर्मों की सिखावन
(२) धर्म और संस्कृति
(३) जीवन और धर्म
(४) मानव संस्कृति और श्री अरविन्द



सब धर्मों की सिखावन

यहाँ, अजमेर में, मैं उर्स के निमित्त आया हूँ। गांधीजी ने इसी मौके पर यहाँ आने का वादा किया था। लेकिन उस समय वे वादे को पूरा नहीं कर सके। इसलिए मैंने यहाँ आना अपना फर्ज समझा।

ऐसे उत्सवों का पड़ना हरएक के लिए आनंद और संतोष का प्रसंग होना चाहिए। लेकिन दुर्दैव की बात है कि आज हिन्दुस्तान में ऐसी हवा चली है कि कभी धार्मिक उत्सव आता है तो डर-सा छा जाता है। दशहरा आता है, ईद आती है, तो डर हो जाता है कि न मालूम अब क्या होगा, ऐसी दुर्दशा हिंदुस्तान की हुई है। लेकिन इस वृत्ति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। धर्म के नाम का उपयोग करके राजकीय महत्वाकांक्षा रखने वाले लोगों को बहकाते हैं। जो सच्ची धर्म-निष्ठा रखते हैं उन्हें इन बुरी बातों से बचना चाहिए।

यहाँ अजमेर में सब धर्म के लोग रहते हैं। अनेक धर्मों का यह केन्द्र है। मुसलमानों का तो यह मशहूर केन्द्र है। हिंदुओं का भी है। आर्य-समाजी भी यहाँ काम करते आए हैं। जैन भी यहाँ के प्रसिद्ध हैं। इस तरह जहाँ सब धर्मों के लोग रहते हैं वहाँ का जीवन आनंदमय होना चाहिए। क्योंकि सब धर्मों ने परस्पर प्रेमभाव रखने की ही शिक्षा दी है।

गीता ने तो स्पष्ट कहा कि हरएक को अपने-अपने धर्म पर चलना

चाहिए, और चलने देना चाहिए। जिसकी जिसपर श्रद्धा है, वही उपासना उसके लिए अनुकूल है।

यही बात कुरान में पाई जाती है। कुरान कहता है, हर एक कौम के लिए भगवान ने रसूल भेजे हैं। जितने रसूल दुनिया में भेजे गये हैं, सबकी जमात एक है। हर मजहब में जितने संत हुए हैं उन सब का हृदय एक है आपस में जो भेद दिखाई देते हैं, वे अन्य लोगों के पैदा किये हुए हैं, संतों के नहीं।

जैनों ने बताया है कि परिपूर्ण विचार कहीं शब्दों में नहीं आता है। एक-एक पंथ में सत्य की एक दिशा दिखलाई देती है। एक ही दिशा को देखने से पूरा सत्य हाथ में नहीं आता। सब पहलुओं से देखना चाहिए, लेकिन एक पहलू का दूसरे पहलू से विरोध तो हो नहीं सकता।

आर्यसमाजी वेदों में श्रद्धा रखते हैं। वेद ने कहा है कि "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।" सत्य एक है, उसकी उपासना करनेवाले अलग-अलग नामों से उसे पुकारते हैं। भिन्न-भिन्न जितने धर्म हैं वे सब अलग-अलग उपासनाएं नहीं तो क्या हैं। इस्लाम एक तरह की उपासना है, ख्रिस्ती धर्म दूसरी तरह की। हिंदूधर्म में तो उपासना के कई भेद हैं। लेकिन फिर भी सत्य एक ही है, इसलिए उन उपासनाओं में विरोध नहीं होना चाहिए, ऐसी आज्ञा वेद भगवान की है।

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ में यही बात है। ईसा अपने शिष्यों को कहते हैं, "तुम यह न समझो कि तुम्हीं मेरे शिष्य हो और तुम्हारे ही मकान में मैं रहता हूं, दूसरे भी मेरे मकान पड़े हैं।" ईसा ने इस प्रकार अपने शिष्यों को-सर्व धर्म-समभाव समझाया है।

इस तरह किसी धर्म का किसी धर्म से विरोध नहीं है। सबका, किसी से विरोध है तो वह अधर्म से है। अधर्म का विरोध करने में सबको

एक होना चाहिए। दुनिया में नास्तिकता फैल रही है। उसका प्रतिकार कौन करेगा? सब धर्म आस्तिक हैं, उन्हें नास्तिकता के खिलाफ लड़ना है, अगर वे आपस में लड़ते रहेंगे तो खुद खतम हो जायेंगे और दुनिया में नास्तिकवाद फैल जायगा।

हिंदुस्तान में अनेक उपासनाएं चलती हैं। उनकी झलक अजमेर में देखने को मिलती है। इसलिए मैं प्रार्थना करूँगा कि एक-दूसरों के धार्मिक उत्सवों में हम शरीक हों और सबको अपने दिल में जगह दें। तभी हिंदुस्तान दृढ़ बनेगा और दुनिया का मार्ग-दर्शक होगा।

—आचार्य विनोबा भावे

: धर्म और संस्कृति :

इधर धर्म शब्द का महत्व कम हो रहा है और संस्कृति शब्द की लोकप्रियता बढ़ रही है। धर्म अनेक हैं और उनमें अनबन देखी जाती है। उनके पण्डित आपस में विवाद में उलझते हैं और उनके अनुयायी अपने अलग-अलग शास्त्र-सूत्रों को लेकर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। यह दृश्य किसी के लिए रुचिकर नहीं है। हमारे पास साधनों की जो प्रचुरता होती जा रही है, उससे दूरी को टिकने के लिए अवकाश नहीं छूट रहा है। सब कोई आसपास आते जा रहे हैं। अपने को अलग—अछूता रखने की सुविधा मिट रही है। देश की, जाति की, भाषा की और इस तरह की अनेक भिन्नताएँ भी जैसे अब सहारा नहीं होतीं और उस सबके बावजूद हम एक ओर इकट्ठे बनते जा रहे हैं। विज्ञान ने ऐसे अचरज पैदा कर दिए हैं कि इस कोने में बैठे हम दुनिया के हर कोने से सम्बन्ध रख सकते हैं। इस ओर से किसी भी छोर के आदमी से बातचीत कर सकते हैं। ऐसी हालत में वह शब्द जो अपन में बन्द पड़कर ही सार्थक बनता है, आज के काम के योग्य नहीं रहता। धर्म आज कुछ ऐसा ही शब्द बन गया ह। धर्म, सब मानेंगे, भीतर से बहुत अच्छी चीज है। लेकिन धर्म जब अपने अनुयायियों को मिलाता है, तब दूसरों को परे रखने में वह सहायक भी हो जाता है। धर्म अनेक हैं और उनकी अनेकता के कारण संघर्ष होते आए हैं। कभी तो ये संघर्ष बड़े अमानुषिक और वीभत्स तक हो गए हैं। प्रत्येक धर्म की कोशिश रही है कि वह धर्मों की अनेकता को इस तरह मिटाए कि खुद सार्वभौम एकच्छत्र बन उठे। इस एकता के मनोरथ को लेकर एक धर्म

ने अन्य अनेक धर्मों पर प्रहार किए और उन पर विजय साध लेनी चाही है। धर्म के साथ इसीलिए विचार और वाद की एक जड़ता और कट्टरता का बोध होता रहा है। निश्चय ही कट्टरता से और कट्टरता उपजी है, कटी नहीं है। इसी तरह अनेकता को नष्ट करने की स्पर्धा ठानकर एक विशिष्ट रूपाकार की एकता को प्रतिष्ठित करने के आग्रह में से अनैक्य बढ़ा ही है, घटा नहीं है।

समय था जब इस प्रकार का आग्रह उपयोगी समझा जा सकता था। लेकिन इतिहास में से जीवन विकास पाता गया है और हिंसा से हम अहिंसा की ओर बढ़ते आए हैं। पहले जो शौर्य था, अब तमाशा बना देखा जा सकता है। मत और वाद का लाठी के जोर से होने वाला प्रचार अब कुछ उपहास्य बन गया है। अच्छी-से-अच्छी चीज़ को अब मानो यह सुभीता नहीं कि वह हठात् अपना आरोपण करे। स्वतन्त्रता सबका अधिकार आ बना है, जिसका अर्थ है कि दूसरे पर हावी होने का किसी को अधिकार नहीं रह गया है। प्रहार की स्वतन्त्रता तो पशु की होती है, प्रेम की स्वतन्त्रता मनुष्य की विशेषता है—यानी यह मनुष्य का ही हक है कि कोई उस पर प्रहार करे, तो बदले में वह प्रहार न दे, प्रेम दे। स्वतन्त्रता का यह रूप मनुष्य को अब उत्तरोत्तर उपलब्ध होता जा रहा है।

काल का इतिहास हिंसा से अनिवार्य रूप से हमें अहिंसा की ओर बढ़ाता आया है, यह तथ्य कदाचित् सहसा कुछ लोगों को मान्य न होगा। एक-से-एक भीषण युद्ध की फसल हम बोते और काटते चले आ रहे हैं। युद्ध तो उत्तरोत्तर इतने विराट् और व्यापक होते जा रहे हैं कि पहले की कल्पना तक वहाँ न पहुँचती थी। आधुनिक शस्त्रास्त्रों के मुकाबले में प्राचीनता के पास भला क्या था? अणु-बम और उद्जन-बम की संहार-शक्ति की तुलना में पुराण का कौन सा ब्रह्मास्त्र ठहर सकता है? इस सबको देखते हुए यह दावा कि मानवता अहिंसा की ओर बढ़ी है, झूठा लग सकता है। पर झूठ वह है नहीं। युद्ध की विराटता ज्ञान-विज्ञान में से मिली

हैं। उसमें कारण यह नहीं है कि आदमी का हिंस्र-भाव पहले से बढ़ गया है। हिंसा में गौरव और गर्व अनुभव करने का भाव निश्चय ही मनुष्य में पहले से क्षीण हुआ है। हिंसा तो है, पर हिंसा का खुला समर्थन कहीं नहीं है। हिंसा को उत्तेजन है तो सीधे नहीं, आड़े-टेढ़े तरीके से—यानी सामने तो आदर्श के रूप में अहिंसा को ही लिया जाता है, फिर उसकी ओट में बुद्धि की प्रवंचना द्वारा हिंसा को ढँक भले रखा जाता है। इस प्रकार विश्व-युद्धों की परम्परा को सामने देखते हुए भी यह निर्णय कि मानवता हठात् और अनिवार्य अहिंसा की ओर बढ़ रही है, असत् नहीं रहेगा, बल्कि वह विज्ञान-सिद्ध और तर्क-संगत ज्ञात पड़ेगा।

हम आज ऐसी जगह पर आ गए हैं जहाँ प्रहार का हक़ एकदम असिद्ध बन गया है। ठीक को भी ग़लत पर प्रहार करने का हक़ नहीं है। असल में ठीक की धारणा ही निरपेक्ष से सापेक्ष बनती जा रही है। किसी को अपने को इस रूप में ठीक मानने का हक़ नहीं रहता जा रहा है कि वह दूसरे को ग़लत कहकर उस पर हावी होने की सोच सके। प्रत्येक के लिए ही नहीं, समाजगत और सर्वगत एक मान आवश्यक होता जा रहा है। इधर जो समाजवाद और साम्यवाद नाम की विचार-धाराएँ चली हैं, उन्होंने अवसर नहीं छोड़ा है कि एक अपने को अन्य अनेक से सर्वथा भिन्न और पृथक मानकर रह सकें। एक सबके साथ है, अपने में वह समाप्त नहीं है। शेष में ही फैलकर एक को चरितार्थ होना है।

धर्म निश्चय आत्म केन्द्रित है। इस अर्थ में वह आध्यात्मिक है। कोई आध्यात्मिकता निरी आत्मरत होकर जी नहीं सकती। ऐसे वह असामाजिक होती है। समाज के अभाव में व्यक्ति की स्थिति नहीं है। इसी तरह असामाजिक होकर धर्म की स्थिति नहीं रहती। किन्तु अनेक बार ऐसा होता था कि धर्म को लेकर व्यक्ति अपने समूचे दायित्व को अपने ही प्रति इस तरह मान उठता था कि समाज के प्रति वह दायित्वहीन बन जाता था। ऐसे धर्म गुत्थियों और ग्रंथियों की सृष्टि करने में कारण बन

जाता था और परिणाम में सामाजिक विषमता उत्पन्न होती थी। इस विषमता को लेकर तो मानव-चेतना का विकास सध नहीं सकता था। इसलिए धर्म के नाम पर जब मानव-चैतन्य की हानि होती देखी गई, तो दूसरे शब्दों में धर्म के नाम पर अधर्म की ही प्रतिष्ठा हुई, तब उस धर्म शब्द का महत्व घटने लगा। चहुँ ओर फैलती हुई मानव-सहानुभूति ने धर्म शब्द का सहारा छोड़ा और उसके लिए दूसरे शब्द की आवश्यकता हुई। 'संस्कृति' वही शब्द है।

संस्कृति में स्पष्ट ही सामन्जस्य की ध्वनि है। किसी अवस्था में भी विग्रह के समर्थन के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। बढ़ता जाता हुआ आपसी भाव—ऐक्य-भाव—उसका सार इष्ट है। कहीं वृत्त वहाँ बन्द नहीं होता। आत्मा के लिए आत्मोपमता के भाव को बढ़ाते जाने का सदा ही अवकाश है। मैं आत्मा हूँ, यहाँ से आरम्भ करके सब-कुछ मुझे आत्मीय है, इस सिद्धि तक साधनार्थी व्यक्ति को बढ़ते ही जाना है। आत्म की धारणा पर स्वयं में बन्द होकर आत्म-हत्या तो हो सकती है, आत्म-मुक्ति नहीं हो सकती, मानों संस्कृति में यह चेतावनी है। संस्कृति का मुख किसी आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर नहीं है, वह तो बाहर की ओर खुलकर फैली हुई निखिलता के प्रति है। संस्कृति यदि कुछ है, तो सामाजिक है। किसी भी बहाने असामाजिक, समाजविरुद्ध या समाजातीत होने की अनुमति नहीं है।

निश्चय ही संस्कृति की माँग से कोई धर्म अथवा मतवाद स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अपना कहकर किसी धर्म में आदमी को यह छूट नहीं हो सकती कि वह दायित्वहीन और उच्छृङ्खल व्यवहार करे। स्वधर्म-पालन पर संस्कृति की ओर से एक मर्यादा आएगी ही। मेरा धर्म मुझे दूसरों के प्रति नम्र न बनाकर उद्धत बनाये, तो वह सहा नहीं जी सकेगा। धर्म का सम्बन्ध चरित्र और व्यवहार से छूटकर जब मत-मान्यता से अधिक हो जाता है, तब स्पष्ट ही मानव-संस्कृति को आकर उस मत-मान्यता से

धर्म का परित्राण करना होता है। हम देखेंगे कि मत-धर्म और मानव-धर्म में यह संघर्ष सदा ही विद्यमान रहा है। जो धर्म को मतवादिता के द्वारा पकड़ते हैं, वे इस रीति से धर्म को जकड़ते और अपने को भी जकड़ते हैं। दूसरे वे हैं, जो सहानुभूति में उनको स्वीकार और अंगीकार करते हैं। ऐसे दो प्रकार के लोगों में संघर्ष रहता आया है। सन्त-महात्माओं को सदा पंड़ितम्मन्यों के हाथों यातनाएँ भुगतनी पड़ी हैं। धर्म जिनके लिए सम्पत्ति के अर्थ में स्वत्व बन आया है, उनको कालगति के साथ चलने में कठिनाई हुई है। ऐसे सम्प्रदाय-धर्म और मानव-धर्म के बीच में तनाव और विग्रह होता रहा है।

धर्म का यह अपलाप देखने में आता है, इसलिए संस्कृति शब्द का सहारा यदि लिया जाय और अपनी अन्तस्थ सहानुभूति का उत्तरोत्तर विस्तार साधते चला जाय, तो यह युक्त ही है। फिर भी उस धर्म शब्द का बहिष्कार उचित न होगा। कारण, नितान्त सामाजिक होकर व्यक्ति समाज के प्रति अपना दायित्व पूर्ण नहीं कर पाता। समाज का अनुगत होकर चलने में समाज का ही सच्चा हित नहीं है। अनुगति में आत्मदान की पूर्णता नहीं है। जो समाज के हित में आत्मभाव से समर्पित है, उसे समाज का बन्दी होने की आवश्यकता नहीं है। वह समाज का सहयोगी है और आवश्यकता होने पर वह उसका नेता भी हो सकता है। नेता का मतलब है साथ होकर भी एक कदम आगे चलने वाला। यह जो एक कदम आगे होकर चलने की बात है, वह निरे सामाजिक आदर्श से पूर्ण नहीं हो सकती। इसके लिए सामाजिक से कुछ उच्चतर आदर्श की आवश्यकता होगी।

आधुनिक लौकिक दर्शन-वादों के लिए समाज जैसे परिधि बन गया है। जो दर्शन समाज से घिर जायगा, वह समाज को फिर उठा कैसे पायगा? इसलिए आदर्श को या लक्ष्य को समाज की सीमा में नहीं बाँधना होगा। उसे कुछ ऐसे व्यापक भाव में ग्रहण करना होगा, जिसका सत्य समाज में

समाप्ति न पा जाय, वल्कि वह उसे अन्यत्र और अतीत होकर भी संगत और सिद्ध रहे। यानी एक सर्वान्तिर्व्यापी सत्ता से उसकी अन्विति हो।

संस्कृति शब्द इसी अपेक्षा में कुछ अपर्याप्त रह जाता है, मानो मानव-सम्बन्धों तक उसकी व्याप्ति है, मानवेतर सत्ता के प्रति उसकी पहुँच नहीं है। सूरज, चाँद और रात को चमक आने वाला नक्षत्र-मण्डल—इन सबके प्रति मनुष्य का जो विस्मय-विमुग्धकारी सम्बन्ध है, उसका समावेश संस्कृति में नहीं होता। इस निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस परम सत्ता से संस्कृति की कुछ पहचान नहीं है, जो अलख निरंजन है, जिसके विना दूसरा नहीं है, जो स्वयं है और शाश्वत है, जो शुद्ध, अन्तिम, परम और अखण्ड सत् है।

यह स्पर्धा तो धर्म की ही है। इह लोक पर वह अटका नहीं है और खुलकर वह पारलौकिक है। समाज नहीं, समष्टि उसे इष्ट है, जी वात्मको अपने द्वारा उसे परमात्मत्व देना है, खंड को अखंड करना है और अंश को सम्पूर्ण की ज्योति में ज्योतिष्क। निःसन्देह धर्म आत्मिक ही हो सकता है। आत्मिक होने में खतरा है। आत्मिक सामाजिक नहीं भी है। लेकिन यह खतरा ही उसकी कीमत है। आत्मिक निश्चय ही सामाजिक से सत्यतर है, पूर्ण-तर है। उस आदर्श में व्यक्ति सर्वथा निस्व और मुक्त हो सकता है। समाज में निजता बँध ही सकती है, खुलेगी वह पूरी तरह समष्टि में ही। सामाजिकता में व्यक्ति की निजता सदा ही अनेकता में उस एक की गिनती बढ़ाने वाली रहती है। आत्मिकता ही है, जिसमें अन्ततः उसकी गिनती भी नहीं रह जाती। वह सर्वथा शून्य बनता और इस तरह अनेकता को सच्ची एकता देता है। व्यक्ति की सम्पूर्ण मुक्ति, जहाँ उसकी कृतार्थता किसी प्रकार भी उसकी ओर सिमटती नहीं है, बल्कि चहुँ ओर खुलती और फैलती ही जाती है, यदि है, तो उस धर्म में, जो आत्मिक है; उस संस्कृति में नहीं, जो निरी सामाजिक है।

इसलिए प्रचलित धर्मों की अनेकता और विग्रह-विवाद आदि की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी धर्म शब्द की मूलभूत आवश्यकता से छुट्टी नहीं ली जा सकती। संस्कृति शब्द उसकी जगह नहीं भरता। संस्कृति में से हम मानवेतर जगत के साथ समस्वरता नहीं प्राप्त करते। चराचर जगत को जो एक नियम धारण कर रहा है, उसके साथ तादात्म्य का बोध उस शब्द में नहीं समा पाता। जगत्-गति में एक लयताल है, सब कहीं एक आनन्दोल्लास की लीला है। धर्म मूल में जैसे उसी सच्चिदानन्द की खोज है, उसी में तद्गत होने का प्रयास है, निजता को निखिलता से मिला देने की साधना है। संस्कृति इस परम पुरुषार्थ से विलग या विच्छिन्न होकर नहीं, आधार में उसकी स्वीकार करके ही सार्थकता प्राप्त कर सकती है।

—श्री जैनेन्द्र कुमार

: जीवन और धर्म : ४

यूरोप के जीवन में जो स्थान कानून का है, अमेरिका की नस-नस में जो महत्व विधान (Constitution) का है, उससे कहीं व्यापक और गहरा असर धर्म का भारतवर्ष के जीवन के अंग-अंग में पाया जाता है। यह ठीक है कि इसकी व्यापकता ने एकांगी और स्वार्थसाधु लोगों से बड़े-बड़े अनर्थ कराये हैं, काफ़ी भ्रम और पाखण्ड को फैलाने का अवसर दिया है, जिसके फलस्वरूप एक ओर धर्म का शुद्ध तेज छिप-सा गया है और उसके बाह्य एवं बिगड़े हुए रूप को देख कर कुछ लोग उसी से घृणा करने लगते हैं। इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। मनुष्य के अन्दर अच्छी-से-अच्छी चीज का भी अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने की जो प्रवृत्ति अब तक चली आ रही है वही इसकी जिम्मेदार है। समाज और राष्ट्र के प्रबन्ध-संचालन और संगठन के लिए अबतक अच्छे से अच्छे नियम और विधि-विधानों का आविर्भाव हुआ है। परन्तु मनुष्य की स्वार्थ-साधुता या शोषणवृत्ति ने उनको बिगाड़ कर ही छोड़ा है। ऐसी दशा में जानकार और जिम्मेदार मनुष्य का यही काम है कि वह बाहरी आवरणों और बुराइयों के अन्दर से चीज की असलियत को समझे, उसके प्रकाश को फैलावे और मनुष्य की दुरुपयोग करने की कुप्रवृत्ति को दूर करने का हार्दिक प्रयत्न करे।

धर्म वास्तव में उन नियमों या विधानों के संग्रह का नाम है, जिनके बल पर मनुष्य और समाज की लौकिक और आत्मिक उन्नति, पोषण

और रक्षण होता रहे। इन नियमों में सत्य और अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है। मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध-मात्र को जो कहीं-कहीं धर्म बताया गया है, अथवा बाहरी क्रिया-कांडों को जो धर्म का सर्वस्व मान लिया गया है, वह एकांगी लोगों की धारणा का फल है। पारलौकिक आध्यात्मिक वा ईश्वर-सम्बन्धी विषय धर्म का एक अंग-मात्र है, धर्म का सर्वस्व नहीं। भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में धर्म के दो विभाग माने गये हैं: मोक्ष-धर्म और व्यवहार या संसार धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर-सम्बन्धी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था समाजोन्नति-सम्बन्धी सांसारिक विभाग को संसार धर्म कहा गया है। लोग जो धर्म के नाम से चिढ़ उठते हैं उसका कारण यह है कि मोक्ष-धर्म और खास कर उसकी ऊपरी बातों पर इतना जोर दिया गया कि जिससे वह अनेकांश में ढोंग रह गया और दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय धर्म की इतनी उपेक्षा की गई कि जिससे दोनों अंगों की समतौलता और सामंजस्य बिगड़ गया। व्यावहारिक अथवा सांसारिक और आत्मिक या पारलौकिक जीवन मनुष्य का एक-दूसरे से इतना मिला हुआ है, इतना एक-दूसरे पर अवलम्बित है कि किसी एक की उपेक्षा दूसरे का सत्यानाश है। मोक्ष-धर्म और उसके बाह्य अंगों पर जोर देने का परिणाम यह हुआ कि लोग प्रत्यक्ष जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली बातों से उदासीन हो गये, पुरुषार्थी जीवन कोरा भाग्यवादी जीवन बन गया और भारत आज अपने तमाम अच्छे संस्कारों के होते हुए भी रुढ़ियों का गुलाम बना हुआ है। इसी तरह अब यदि केवल लौकिक, सामाजिक, व्यवहारिक या संसारी बातों को ही महत्व देकर जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण आत्मिक अंग की उपेक्षा की तो इसका परिणाम और भी भयंकर होने की सम्भावना है। बुनियाद या जड़ की तरफ ही हमेशा देखने वाला और मकान के खम्भों, दीवारों, छतों की या पेड़ की डालियों और फल-फूलों की उपेक्षा करने वाला किसी दिन मकान को गिरा हुआ, पेड़ को निरुपयोगी पायेगा और बुनियाद या जड़ से ध्यान हटा कर फलफूल और खम्भे दीवारों में अटक रहने वाला जिस

तरह किसी दिन यकायक अपने मकान और पेड़ को गिरा और सूखा पावेगा उसी तरह जीवन के दो में से किसी भी विभाग की उपेक्षा करने वाला सदा घाटे में ही रहेगा।

जो लोग यह समझते हैं कि जीवन का आत्मिक भाग फिजूल है या हानिकर है, वे भूल करते हैं। जीवन का व्यावहारिक या सांसारिक भाग वह है, जिससे बाहरी परिणाम जल्दी और स्पष्ट दिखाई पड़ता हो। आत्मिक भाग वह है, जिसमें उसके सूक्ष्म कारण और बीज छिपे हुए हों। जिस प्रकार जड़ को पकड़ कर बैठ जाने और फल-फूल की तरफ ध्यान न देने वाला एकांगी और अव्यावहारिक है, उसी प्रकार फल पर ही चिपक रहने वाला भी एकदेशीय और अदूरदर्शी है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों पर दृष्टि रखने वाले मनुष्य का ही जीवन वास्तव में उपयोगी और सफल कहा जा सकता है।

आजकल धर्म को कोसना एक फैशन बन गया है। पर धर्म को कोसना मनुष्य-जीवन की बुनियाद को ढहाना है। धर्म का अर्थ है मनुष्य जीवन का नियामक या व्यवस्थापक। क्या आप नहीं चाहते कि आपके जीवन में कुछ नियम हों—ऐसे नियम हों जिनसे आपका और समाज का जीवन बने और सुधरे? यदि चाहते हैं तो फिर उन नियमों के संग्रह या अधिष्ठान अर्थात् धर्म से क्यों घबराते हैं? सत्य और अहिंसा धर्म के मुख्य अंग हैं, दो पांव हैं। मनुष्य-जीवन में इन दोनों की उपयोगिता और अनिवार्यता पहले सिद्ध की जा चुकी है। यदि आप अपनी रक्षा और विकास चाहते हो तो आपको सत्य को अपनाना ही होगा, यदि आप दूसरे की रक्षा और उन्नति चाहते हो, तो आपको अहिंसा की आराधना करनी ही होगी। सत्य की साधना के बिना आपकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत धर्म है। इसीलिए 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः' और 'अहिसा परमोधर्मः' कहा है।

धार्मिक जीवन के मानी हैं नैतिक जीवन। नैतिक जीवन के मानी हैं सज्जन, सुव्यवस्थित जीवन। सज्जन-जीवन के मानी हैं मानवी जीवन। ऐसी दशा में यदि आप धर्म से इन्कार करते हैं तो गोया आप मानवता को नहीं चाहते हैं। धर्म एक कानून है, जो मानवता का पूर्ण विकास करता है। धर्म मनुष्यता का पथ-प्रदर्शक है। धर्म वह सड़क है, जिस पर मानव-विकास दौड़ता हुआ चलता है। जिससे मनुष्य समाज की रक्षा और उन्नति होती है, वह धर्म है।

तो फिर कई लोग धर्म के नाम से चिढ़ते क्यों हैं? इसलिए कि एक तो उन्होंने मजहब को धर्म समझ लिया है, फिर धर्म के असली रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं की है और अज्ञ तथा अल्पज्ञों में धर्म के नाम पर जो अण्ट-सण्ट बातें प्रचलित हैं उन्हीं आडम्बरों को धर्म मान लिया है। वास्तव में, हिन्दुओं के यहाँ तो सार्वजनिक धर्म के ये लक्षण बताये गये हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥१॥
अहिंसा सत्यमस्तेयम काम-क्रोध-लोभता।
भूतप्रियहितेह च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२॥

अर्थात्—हिंसा न करना, सत्य का पालन करना, पवित्रता की रक्षा करना, इन्द्रियों को वश में रखना, यह चारों वर्णों का धर्म संक्षेप में मनु ने कहा है ॥१॥ और हिंसा न करना, सत्याचरण करना, चोरी न करना, विषयेच्छा न करना, गुस्सा न रखना, लोभ न करना, बल्कि संसार के प्राणिमात्र का प्रिय और हित करना, यह सब वर्णों का धर्म है ॥२॥

इससे पता लगेगा, इसमें कोई बात ऐसी नहीं है जो गर्हित हो, या जन-समाज के लिए हानिकारक हो; बल्कि बहुत अनुभव के बाद समाज

की सुव्यवस्था और उन्नति के लिए इन नियमों की रचना की गई है। अतएव धर्म की अवहेलना करना, उसे मिटाने की चेष्टा करना, एक तो अपना अज्ञान प्रकट करना है और दूसरे मनुष्य की प्रगति की ही जड़ काटना है।

मजहब या सम्प्रदाय धर्म से भिन्न चीज है। मजहब असल में दो बातों को प्रकट करता है: (१) एक तो मनुष्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध और (२) विशिष्ट मत-प्रवर्तक द्वारा प्रचलित साम्प्रदायिक रीति-नीतियां। जिस मत-प्रवर्तक ने ईश्वर सम्बन्धी जैसी कल्पना की है वैसा ही सम्बन्ध उसके अनुयायियों का ईश्वर से रहा है, और कुछ बाह्याचार ऐसे बना दिये हैं जो मनुष्य की बुद्धि को सर्वथा सन्तुष्ट नहीं कर सकते। इसी तरह कुछ साम्प्रदायिक रीति-नीतियां भी चल पड़ी हैं। उसका मूल स्वरूप चाहे कुछ तथ्य रखता भी हो, पर उसके बाह्य स्वरूप ने इतना बिगाड़ पैदा कर दिया है कि अब वे एक पाखण्ड और आडम्बर-मात्र रह गई हैं। पर इन्हें कोई भी समझदार अपना धर्म या धर्म का आवश्यक अंश नहीं कहेगा। इनमें समयानुसार सदा परिवर्तन और संशोधन होता आया है, किन्तु धर्म का मुख्य अंग, धर्म का मूल स्वरूप सदा एक-सा रहा है और रहेगा। जिन नियमों के आधार पर सारी सृष्टि चल रही है, सारे समाज का संगठन हुआ है, धर्म का सम्बन्ध तो सिर्फ उन्हीं से है। उनके अतिरिक्त जितनी बातें धर्म के नाम से प्रचलित हो गई हैं वे सब संशोधनीय, परिवर्तनीय और त्याज्य हैं।

इतने विवेचन से हमने जान लिया कि धर्म का जीवन में उतना ही स्थान है जितना कि शरीर-रचना में हृदय का है। यदि हम धर्म के शुद्ध और उज्ज्वल रूप को देखेंगे तो उस पर मुग्ध और कुरबान हुए बिना न रहेंगे।

—पं० हरिभाऊ उपाध्याय

: मानव संस्कृति और श्री अरविन्द :

संस्कृति अवश्य ही मनुष्य की अभिरुचि का प्रधान विषय है। उसकी उच्चतम लगन है, उसकी महत्तम प्राप्ति है। यह किसी समय-विशेष में उसके जीवन के आन्तरिक अनुभव की ओर सब बाह्य परिस्थिति के साथ विभिन्न आदान-प्रदानों की समष्टि है। इसके अन्दर उसका दर्शन, उसकी कला और साहित्य, उसका विज्ञान, उसका सामाजिक संगठन और राजनैतिक जीवन आ जाते हैं। विकास और वर्द्धन के लिये, जीवन पर प्रभुता स्थापित करने के लिये, अपने प्रयत्न-संघर्ष और अभीप्सा से वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप में जो बन गया होता है, वही संस्कृति होती है। पशु प्रकृति का जीवन व्यतीत करता है; उसकी कोई संस्कृति नहीं होती। परन्तु मनुष्य संघर्ष करता है, अभीप्सा करता है और परिस्थिति पर प्रभुता स्थापित करता है, उसे बदलता है, तथा जीवन की अंतिम परिपूर्ति की खोज करता है। वह प्रगतिशील रूप से विकसित होता जाता है, वह सदा अधिकाधिक भिन्न होता जाता है। वह जो कुछ हो चुका है और जो वह बनने जा रहा है, वही उसकी संस्कृति का माप और स्वरूप होता है।

परन्तु मानवीय व्यक्तित्व एक जटिल वस्तु है। यह बहुविधता के अन्दर एकता का स्वरूप है। इसके निर्माण और गठन में सम्मिलित होते हैं भौतिक शरीर, प्राणिक प्रवत्तियां, विचारशील मन और परात्पर आत्मा। शरीर, प्राण, मन और आत्मा इसके प्रमुख अंग हैं। औसत व्यक्तित्व प्रमुखतः शरीर, प्राण तथा मन का संगठन होता है, आत्मा पर्दे के पीछे अज्ञात

रूप में रहती है। शरीर, प्राण एवं मन के इस संगठन में इनमें से किसी एक की या इनके किसी अंगविशेष की प्रमुखता हो सकती है। इस प्रकार मनुष्य के सांस्कृतिक विकास वास्तव में अत्यन्त विभिन्न हो सकते हैं।

यूनान की संस्कृति ने मानव व्यक्तित्व के बौद्धिक तथा सौन्दर्य रसिक अंगों का अनुशीलन चाहा था। उसकी प्रधान प्रेरणा बौद्धिक और सौन्दर्य-रसिक थी, अतएव उसका बाह्य रूप भी अधिकतः इन्हीं अंगों की खोज के अनुरूप था।

हमारी आधुनिक संस्कृति, जो यूरोप में पिछले ४०० वर्षों में वैज्ञानिक खोज और आविष्कारों से पनपी है और जो आज सारी दुनियां में फैल रही है, 'अच्छे-जीवन' कामनाओं की पूर्ति, तथा सुख-साधन का एक नमूना है। इसकी प्रेरणा है प्राणिक और यह प्रथमतः संतुष्ट करना चाहती है हमारी जीवन-प्रवृत्तियों को—भोजन, सुरक्षा आदि की माँगों को। बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य-रसिक वृत्तियाँ भी अधिकतः हमारी प्राणिक धारा के यन्त्र बन गयी हैं।

स्पष्टतया आज की विपुल वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद भी यूनानी संस्कृति को ही श्रेष्ठ मानना होगा। यूनानी संस्कृति प्रमुखतः बौद्धिक और सौन्दर्य-रसिक थी, उसने मानवीय व्यक्तित्व के उच्चतर तत्वों का अनुशीलन और विकास करना चाहा था। मानव इतिहास के वर्तमान काल को उत्तम मानने में हम रेल, हवाई जहाज, रेडियो आदि-आदि जीवन की बाह्य सफलताओं से भ्रमित हो जाते हैं। परन्तु मूलतः इन चीजों का उद्गम हुआ है प्रकृति को जीतने के जोश और उत्साह से, और ये चीजें अच्छे और सुखी जीवन के लिये प्राणिक तृप्ति में ही सहायता करती है। इसमें बुद्धि को भी प्रधानतः एक साधन के रूप में ही उपयुक्त किया गया है। यूनानियों ने प्रमुखतः बुद्धि और सौन्दर्य-रस स्वयं को चाहा था और क्योंकि ये हमारे व्यक्तित्व के उच्चतर तत्व हैं, अतएव हमें यूनानी संस्कृति को ही श्रेष्ठ मानना होगा।

तथापि बुद्धि और सौन्दर्यभावना हमारे व्यक्तित्व के उच्चतम तत्व नहीं हैं। भारतीय संस्कृति की नींव डालने वाले इस देश के प्राचीन द्रष्टाओं ने अपने गम्भीर आंतरिक अनुसंधानों के दौरान में मन के प्रकाश से महत्तर एक अन्य आलोक को देखा और इसे उन्होंने आत्मा कहा। उन्होंने इसे जीवन के प्राणित जोश-खरोश से भी अधिक सबल पाया। तब आत्मा को प्राप्त करना और उसे अभिव्यक्त करना ही जीवन का उद्देश्य बन गया और उन द्रष्टाओं ने व्यक्ति के जीवन में इसे उपलब्ध करने की नियमित योजना बनाई। इसका परिणाम हमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास, इन चार आश्रमों के विचार में मिलता है। सामाजिक जीवन के गठन में भी हमें इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। समाज में उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण प्रतिष्ठित किए, जिसमें यह भावना थी कि प्रत्येक अपना-अपना कर्त्तव्य करें और सर्व साधारण की अधिकतम भलाई सिद्ध करे। व्यक्ति और समाज के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का चतुर्विध आदर्श भी एक और प्रमाण है कि भारत के प्राचीन द्रष्टाओं ने भारतीय संस्कृति को जीवन के आध्यात्मिक दर्शन पर निर्मित करना चाहा था। इसी कारण भारतीय संस्कृति को मूलतः आध्यात्मिक कहा जाता है।

किन्तु जो संस्कृति आत्मा और उसके अनुभवों को अपना केन्द्रीय भाव मानती है क्या वह उन संस्कृतियों से श्रेष्ठ होती है जिनका भाव तार्किक विचारशीलता, सौन्दर्य-रसिकता, नैतिकता या 'अच्छा-जीवन' होता है? निश्चय ही संस्कृति व्यक्तित्व का अनुशीलन है और इसमें स्पष्ट ही व्यक्तित्व के उच्चतम तत्व को सबसे ऊंचा स्थान मिलना चाहिये। आत्मा स्वभावतः और स्वरूपतः आन्तरिक मूल्यों का घर है और उसमें आत्मनिदर्शन, आत्म-चालन और स्वयंभूत्व की क्षमता है, अतएव यह तत्व मन, प्राण और शरीर से श्रेष्ठ है; क्योंकि मन, प्राण और शरीर स्वभावतः परिस्थिति पर निर्भर करते हैं और उससे नियमित होते हैं।

किन्तु आध्यात्मिक जीवन के भी ऐसे दृष्टिकोण रहे हैं जिन्होंने आत्मा को एकांतिक-से रूप में चाहा है। वास्तव में उन्होंने हमारे व्यक्तित्व के अन्य अंगों को मन, प्राण तथा शरीर को सामान्य अधिकार भी नहीं दिया। भारत और यूरोप की मध्यकालीन आध्यात्मिकता निस्संदेह ऐसी ही थी। इसने जगत् को अस्वीकार कर दिया।

किन्तु श्रीअरविन्द ने सर्वांगीण आध्यात्मिकता की जो दृष्टि हमें प्रदान की है वह स्पष्ट बतलाती है कि आत्मा, जो हमारे व्यक्तित्व का श्रेष्ठ तत्त्व है, हमारे अन्य अंगों की शक्तियों को वशीभूत और संचलित करने में समर्थ है और उसे हमें ऐसा करने का अवसर देना चाहिए। तभी परिपूर्ण व्यक्तित्व उपलब्ध हो सकेगा और सामान्य जीवन वास्तव में रूपान्तरित होगा। यदि आत्मा को जगत् से अन्यत्र कहीं खोजा जाय तो फिर इस जगत् के लिए आशा कदाचित् ही बच रहेगी, क्योंकि तब तो जगत् मन की द्विधा, प्राण की भूख और जड़ की निश्चेष्टता का दास बना रहेगा। आध्यात्मिक चेतना की परिपूर्ण और सम्पूर्ण ज्योति ही इन चीजों को परिवर्तित कर सकती है और इस ज्योति को ही हमें जगत् के मध्य, उसके संघर्षों के मध्य उतार लाना है।

तब स्पष्टतः सांस्कृतिक जीवन की एक नयी दिशा हो जायगी। हम मन द्वारा अपने वैयक्तिक जीवन में एकता खोजते हैं, राष्ट्रीय जीवन में एकता खोजते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एकता खोजते हैं: किन्तु ऐसी एकताएं सदैव दुर्बल रहती हैं। परन्तु पूर्णत्वप्राप्त व्यक्तित्व के लिए एकता उतनी ही सहज तथा स्वाभाविक होगी जितना कि विभेद हमारे लिए है। इस प्रकार जिस सांस्कृतिक जीवन का श्रीगणेश पूर्णत्वप्राप्त व्यक्तित्व से होगा वह मानवजाति के सांस्कृतिक जीवन में एक नया आरंभ होगा। यह संस्कृति मानव जीवन की अन्तर्निहित एकता के सहारे अग्रसर होगी और उसी के आधार पर विभिन्न जातियों एवं राष्ट्रों का बहुरंगी तथा समृद्ध जीवन निर्मित करेगी। और तब आज के इतने सारे धर्म व विभिन्न

राष्ट्रीय गुण मानव जीवन की समृद्ध एकता के इतने सारे वैयक्तिक रूप प्रतीत होने लगेंगे।

श्री अरविन्द कहते हैं कि यह विकास मानव जीवन की अवश्यम्भावी नियति है। विकासक्रम से ही ऐसा होना अनिवार्य है। भूतकाल में पूर्णत्व-प्राप्त व्यक्तित्व के उदाहरण मिलते हैं सही, परन्तु वे वैयक्तिक दृष्टान्त भर ही थे। श्रीअरविन्द अपनी गूढ़ दृष्टि से यह देखते हैं कि आध्यात्मिक जीवन का, पूर्णत्वप्राप्त व्यक्तित्व का तत्व अब सर्वसाधारण में प्रतिष्ठित हो सकता है। वे कहते हैं कि अब तक विकासक्रम ने सत्ता के तीन तत्व प्रकट किये हैं, जड़, प्राण और मन। परन्तु मन स्वभावतः अन्तिम सीमा नहीं है। वास्तव में यह एक मध्यवर्त्ती चीज है जो अपने से आगे एक अखंड आत्मस्थित चेतना की ओर, गीता की स्थित-धी को ओर इंगित करती है। इस प्रकार मन एक उच्चतर चेतना की राह दिखाता है जिसे वे अतिमानस का नाम देते हैं।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि आज मानव लोक में जो इतना व्यापक संकट आया है, पहले के मूल्य और मापदण्ड व्यर्थ हो रहे हैं, नवीन मूल्यों के लिये अस्तव्यस्त किन्तु तीव्र खोज हो रही है, यह अवस्था ही मानस जीवन के विकासक्रम में अतिमानस के आविर्भाव को दर्शाती है। श्रीअरविन्द का योग और उनके आश्रम में जो कार्य हो रहा है वे मूलतः इसी आविर्भाव से सम्बन्धित है। मनुष्य की स्थिति में विकासक्रम एक सचेतन और इच्छित व्यापार हो सकता है और यदि मनुष्य प्रकृति का उद्देश्य देख पाये और उसे सहयोग दे तो उससे हमारी प्रगति की चाल तेज हो सकती है। अतएव श्रीअरविन्द मानव को सचेत करते हैं किन्तु प्रगति के सच्चे उद्देश्य को देख उसे सहयोग दे, और एक नयी चेतना, परिपूर्ण व्यक्तित्व और नूतन आवि-र्भाव में सहायक हो। इससे एक नया और अधिक समृद्ध सांस्कृतिक जीवन गठित होगा, जिससे मानव एकता का दर्शन होगा।

—डॉ० इन्द्रसेन

{[५]}

: साहित्यिक वं शिक्षरा क्षेत्र :

(१) श्रीगणेश
(२) जीवन ओर शिक्षण
(३) नई तालीम
(४) साहित्य-निर्माण
(५) साहित्य की शक्ति



: श्रीगणेश :

साहित्य ज्ञान का एक बड़ा सुभीते का साधन होने से साहित्य का उपयोग करने में समर्थ होना, यानी पढ़ना-लिखना आना, ज्ञान का एक बड़ा अंग है। मनुष्य जब लिखना-पढ़ना सीख लेता है तब ज्ञान-प्राप्ति और अपने मतों का प्रचार, इन दोनों विषयों में वह स्वतंत्र हो जाता है; इसलिए शिक्षा के प्रारम्भ में ही शिक्षा के साधन के तौर पर लिखने-पढ़ने की कला सिखाई जाती है। इसका नतीजा यह हुआ है कि लोग साधन को ही साध्य मानने लगे हैं। यह खयाल लगभग सभी जगह मौजूद है कि लिखना-पढ़ना ही शिक्षा है।

लेखन-कला के महत्व को किसी भी तरह कम न करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस कला को शिक्षा में मिलने वाला स्थान आवश्यकता से अधिक है। लेकिन लोगों के मन में इस कला के प्रति इतना अत्यधिक मोह है कि अगर कोई उसकी उपयोगिता की मर्यादायें बताने लगे, या उसके विरुद्ध पक्ष की थोड़ी-सी बातें पेश करने लगें तो बहुत से लोग उसे साक्षरता, साहित्य, शिक्षा, विद्वत्ता, इतना ही नहीं बल्कि सारे ज्ञान का शत्रु करार देने में न हिचकिचायेंगे। जिस तरह इटली और जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर के खिलाफ़ एक लफ़्ज भी निकालना असम्भव था, उसी तरह हमारे यहाँ साक्षरता प्रसार के आग्रह के खिलाफ़ बोलना मुश्किल हो गया है। फिर उसमें विशेष दुःख की बात यह है कि साक्षरता के अंधे अभिमान के इस युग में भी साक्षरता-प्रसार की अमली और जोरदार कोशिशें ही होती हैं।

जिस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि अक्षरों और लिपि का आविष्कार न हुआ होता तो भाषा नष्ट हो चुकी होती, उसी तरह यह कहना भी मुश्किल है कि लिपि के अभाव में साहित्य पैदा ही न होता। यह सही है कि उस हालत में साहित्य ने कुछ अलग स्वरूप ग्रहण कर लिया होता और मनुष्य को अपनी स्मरण-शक्ति अधिक तीव्र करनी पड़ती। लेकिन खुशकिस्मती से लिपि का आविष्कार हुआ और बड़ा सुभीता हो गया।

लेकिन शिक्षा के बारे में तो यह अनुभव हुआ है कि तालीम के शुरू में लिपिकार गणेशजी को लाकर बिठाने से यह विघ्नहर्ता स्वयं ही एक बड़ा विघ्न बन बैठा है। शिक्षा के मानी हैं सब इन्द्रियों की उचित समय पर उचित ढंग से शक्ति बढ़ाना; विश्व के सम्बन्ध में उस-उस जमाने के लिए जरूरी जानकारी हासिल करना; निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग, अनुमान आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में प्रवीण होना; और जीवन को कृतार्थ बनाने के लिये विचार, विकार, वासना, आकांक्षा आदि सबको इष्ट दिशा में मोड़ना। यह सब सुयोग्य व्यक्ति की देख-रेख में लिपि के आधार के बिना ही शुरू हो जाना चाहिये। जिस तरह माँ के दूध के बदले डिब्बे के दूध से बच्चे का—फिर वह छोटा हो या बड़ा—काम नहीं चलता उसी तरह ज्ञानदाता गुरुजनों के बदले बालकों के सामने रोचक और विविध साहित्य फैलाने से काम न चलेगा। ज्ञान की बढ़ती हुई भूख के लिए जब शिक्षक अपर्याप्त साबित होंगे तभी साहित्य-ग्रन्थों का परिचय जरूरी होगा। इसलिए शिक्षा का प्रारम्भ लिपिज्ञान से न करके श्रवण, अनुकरण और निरीक्षण से ही करना चाहिए। कण्ठ से निकलने वाली और कानों द्वारा ग्रहण होनवाली ध्वनि को अंगुलियों से निर्मित तथा आँखों से दिखाई देनेवाली रेखाओं तथा आकृतियों द्वारा व्यक्त करना बड़ा झंझट का काम है। एक लोटा देखकर उसकी तस्वीर खींचना स्वाभाविक है; लेकिन मुंह से 'ढ' की आवाज़ निकलते ही उसे व्यक्त करने के लिए ज्ञानदाता गणपति की सूँड़ का चित्र भला क्यों बनाया जाय? उस बेचारे बालक की समझ में यह बात कैसे आये कि आवाज़ और आकृति का यह सम्बन्ध क्योंकर

प्रस्थापित हुआ ? शक्ल को देखकर ध्वनि को पहचानना और ध्वनि को सुनकर आकृति तय करना—इस तरह का यह जादू या करतब दिखाने में अगर विद्यार्थी नाकामयाब रहा तो धीरे-धीरे उसे ऐसा लगता है ! 'मैं सचमुच 'ढ' यानी बेवक़ूफ़ हूँ ।' फिर उस्ताद कहने लगता है, "रे मूढ़, आखिर तुझको क्या कहा जाय ? तू तो 'ढ' भी नहीं जानता !'

शिक्षा के प्रारम्भ में ही बालकों के अन्दर के आत्मविश्वास की हत्या करके उनमें न्यूनभाव (Inferiority Complex) पैदा करने से अधिक प्रजाद्रोह और कौनसा होगा ?

आजतक शिक्षा के संस्कार सफ़ेदपोश यानी मध्यम तथा उच्च श्रेणी के लोगों में ही होते थे। उनके लड़कों को घर में और बाहर भी लेखन-पठन का दर्शन नित्य होता है । फिर बचपन से उन्हें यह बताया जाता है कि बगैर पढ़े-लिखे पेट नहीं भर सकता । इसलिये अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लेना उनके लिए कुछ आसान भी हो जाता है और उन्हें वह ज़रूरी भी लगता है। सफ़ेदपोश लड़के अक्षर ज्ञान आसानी से हासिल कर लेते हैं । श्रमजीवी जमातों के लड़कों में स्वाभाविक रूप से हस्तकौशल अधिक होता है । उनके हाथ-पैर मज़बूत होते हैं। कान, आँखें, जीभ आदि ज्ञानेन्द्रियां तीव्र होती हैं लेकिन अक्षर ग्रहण के बारे में सफ़ेदपोश लड़कों की बनिस्बत शुरू में कुछ मन्द-से मालूम होते हैं। इसलिये सच्ची शिक्षा के बारे में देहात के श्रमजीवी श्रेणी के लड़के अग्रसर होते हुए भी ठोठ ठहरते हैं, क्योंकि शिक्षा के प्रारम्भ में ही लिपि का अड़ंगा 'श्री गणेशायनमः' के रूप में लगाया जाता है ।

वास्तव में देखा जाय तो देहात की शिक्षा के मानी हैं अब्राह्मणों की शिक्षा; श्रमजीवी जातियों की शिक्षा; किसान, कारीगर, कलावान, मजदूर आदि लोगों की शिक्षा। इसी दृष्टि से गाँवों की शिक्षा पर विचार करना चाहिये। और इसलिये शिक्षा का प्रारम्भ लिपिज्ञान से न करके सामान्य ज्ञान से करना चाहिये। बहुत-सी बातें जबानी कहना, बहुत से

प्रयोग बच्चों के हाथों से करा लेना, कलाकौशल का महत्व बढ़ाना, बहादुरी के कामों में हिस्सा लेना और खास अवसरों पर सुन्दर साहित्य सुनना आदि बातों से ही शिक्षा का प्रारंभ होना चाहिए। जब बहुत-सा ज्ञान विद्यार्थी को मिल चुका हो, ज्ञान के प्रवाह में गोता लगाकर वह आसानी से तैरने लग जाय और उसे अधिकाधिक ज्ञान की प्यास लगने लगे, तब लिपि के साथ उसका परिचय करा दिया जाय। इससे पहले ही साहित्य-श्रवण के कारण उसे लिपि का महत्व मालूम हो जाता है और उसे यह महसूस होने लगता है कि 'अगर मैं यह सब पढ़ सकूँ तो कितना अच्छा!' यह तेज़ नज़रवाला, तरह-तरह की दस्तकारियों में होशियार, प्रयोगों में सतत दिल लगाकर काम करने वाला विद्यार्थी मानो आत्मविश्वास और उत्साह की महत्वाकांक्षा से भरपूर मूर्ति ही होता है। ऐसे समय पर वह बहुत आसानी से अक्षर-प्राप्ति कर लेता है।

देहात की शिक्षा केवल बच्चों की तालीम नहीं है। आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी को आधुनिक अद्यतन बना देना चाहिये। अतः देहात की शिक्षा प्रधानतया शालेय-शिक्षण (स्कूली तालीम) नहीं, बल्कि लोक-शिक्षण ही है।

यहाँ भी लेखन से पहले ज्ञान-कथन और साहित्य-श्रवण (साहित्य सुनाना) का ही पुरस्कार करना चाहिए। इस तरह शिक्षा का प्रारंभ गुरुमुख और श्रौत (सुनाने के) ढंग पर हो जाय तो शिक्षा बहुत आसान होगी और जनता की बहुत कुछ तकलीफ बच जायगी। जिनमें गरीबों के प्रति हमदर्दी और सेवाभाव होगा उन्हीं का असर जनता पर पड़ेगा।

इस तरीके का असर साहित्य पर बहुत अच्छा होगा। जिस तरह कुछ नाटक रंगमंच पर आने के लायक नहीं होते, कुछ कविताएं बिलकुल गाने लायक नहीं होती, उसी तरह बहुत-सा साहित्य सुबोध होते हुए भी सुवाच्य या सुपाठ्य नहीं होता। गद्य के मानी, कर्त्ता-कर्म-क्रिया आदि से युक्त और अर्थ देने वाले कलाहीन वाक्य नहीं हैं। भाषाभिज्ञ और

उस-उस विषय की जानकारी रखने वाला आदमी जोर से पढ़ने लगे तो जिसे सुनकर वह स्वयं ऊब या थक न जाय, और सुनने वालों को भी ऐसा लगे कि हम श्रवण-रुचिर, व्यवस्थापूर्ण, प्रमाणबद्ध, उत्कृष्ट कलाकृति का सेवन कर रहे हैं तो वही गद्य है। साहित्य का श्रवण-श्रावण जब समाज में बढ़ेगा तभी साहित्य का यह विभाग खिल उठेगा। उत्कृष्ट गद्य में एक तरह का ताल और लय होता है तो आसानी से पहचाना तो नहीं जा सकता लेकिन जो कान और गले को सुख देता है। भाषा के प्रवाह में कभी छोटी-छोटी तरंगें होती हैं, तो कभी बड़ी-बड़ी मौजें होनी चाहियें; वही वही शब्द बार-बार सुनने की इच्छा होती है, धीरे-धीरे ऐसा लगने लगता है कि यह विचार, यह कल्पना, यह जानकारी या यह विवेचन दूसरे शब्दों में पेश करना नामुमकिन है, और अन्त में तो यह रचना पद्य की तरह जबान पर बैठ जाती है।

इस तरह का गद्य जहाँ नाटकों में भी सार्वत्रिक नहीं है वहाँ मामूली लेखों में उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? श्रवण-श्रावण की परिपाटी से साहित्य का रूप, लावण्य और ओजस् सभी बढ़ेंगे और जनता के चारित्र्य और संस्कारता पर उसका असर होगा।

देहात के लोग साहित्य-शौंड न हों तो भी स्वभाव से ही साहित्य-रसिक होते हैं। रुचिर साहित्य और तेजस्वी विचार में वे आमतौर पर फ़र्क नहीं करते। साहित्य सिर्फ़ ग्रन्थों में बढ़ना काफ़ी नहीं है। लोगों के बोलने-चालने में, सलाह-मश्विरे में, ऊहापोह में और विवेचन में साहित्य की संस्कारिता पकनी चाहिये, तभी यह कहा जा सकेगा कि साहित्य ने अपना काम किया है। ऊपर बतायी हुई ग्रामशिक्षा अगर थोड़े ही साल तक चलती रही तो उसका नतीजा साफ़-साफ दिखाई देगा।

—श्री काका कालेलकर

———

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पंद्रह-बीस बरसों में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथ भर लंबाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रम से, थोड़ी थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये तब दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिलकुल आखिरी दिन तक मनुष्य-जीवन के विषय में पूर्णरूप से गैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकल कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारी से संपूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज!

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी

उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

वीस वरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊंचे विचारों के महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृ-भूमि की सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूंगा।" एक दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है, आज तक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिये वन-वन फिरने वाले शिवाजी, करुण-गीत गाने वाले वाल्मीकि, और कभी नौकरी की, तो कभी औरत की, कभी लड़की के लिए वर की और अंत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएं लेकर अपनी कल्प-नाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्योंजी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कॉलेज में जाऊंगा।"

"ठीक है। कॉलेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं—यानी? लेकिन विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज़ में बेफिक्री थी; आज की आवाज़ में थोड़ी चिंता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्न-कर्त्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो, अब 'गृहस्थ' से —वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज़ की बेफिक्री बिलकुल गायब थी। "ततः किं? ततः किं? ततः किम्?" यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था, पर पास जवाब नहीं था।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आँखों से देखते हैं। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिंचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनंद की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वे हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन दुःखमय नहीं रचा पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की जिन्दगी चाहेगा? तिसपर ईश्वर प्रेम और करुणा का कोई पार है? वह अपने लाड़ले बच्चों के लिए सुखमय जीवन का निर्मा

करेगा कि परेशानी और झंझटों से भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इंतजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की वनिस्वत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। आत्मा सबसे अधिक महत्व की होने के कारण वह हरएक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे, जड़ जवाहरात जमा करने में जितने जड़ बन जायं तो तकलीफ हमें होगी ही। पर यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नहीं।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है। यह आनन्द से ओतप्रोत है, वशर्ते कि रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दवाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनन्द से भरी हुई वस्तु है वैसी ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ वह सारे शिक्षण का फल गंवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिंदगी की जिम्मे-दारी का खयाल अगर बच्चों में पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन यानी कलह, यह मान लेना। ईसप-नीति के अरसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक, मर्म को समझाने वाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया तो जीवन के अन्दर का कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। बन्दर के हाथ में मोतियों की माला (मरकट भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के संबंध

में डार्विन का सिद्धांत ही सिद्ध किया है । हनुमान के हाथ में 'मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। विना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है—' यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। इसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली वात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहार में काम करने वाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन कराने वाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी "सिखाने वाले" बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीने वाले' हों, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलाने वालों का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझा कर बताने की योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतन्त्र धंधे की जरूरत नहीं है। न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्यकोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं', अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध—पेशेवर कहिये या व्यवहारिक कहिये, पर जीवन के भीतर से

—उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षण के काम के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य-कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है, लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकर न खाने पायें और धीरे-धीरे वे स्वावलम्बी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा फल के लिए भी लागू है—खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊंगा, इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। यह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूँ वह—जाती है तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि

ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायं, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबरा कर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जायं। इसीसे मनु ने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीरयात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञकर्म' —यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञकर्म जान। वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। शरीरयात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझ कर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर सेवा में देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए उनकी शक्ति भर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उसके आस-पास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

—संत विनोबा भावे

———

: नई तालीम :



गांधीजी ने संसार को अहिंसा का संदेह सुनाया। इसी हेतु उन्हें वर्त्तमान युग का युग-पुरुष माना जाता है। लेकिन अहिंसा की बात कह कर गांधीजी ने क्या कोई नया संदेश सुनाया? महावीर, बुद्ध, ईसा तथा अनेक संत युग-युग से मानव-समाज को अहिंसा की वाणी सुनाते आ रहे हैं, तो गांधीजी ने कौनसी नई बात बतायी?

गांधी : धर्म-चक्र-प्रवर्तक

महात्मा गांधी ने सिर्फ 'अहिंसा परमो धर्मः' का सूत्र नहीं बताया। वस्तुतः उन्होंने अहिंसक प्रतिरोध का मार्ग-दर्शन करा कर अहिंसा के क्षेत्र में भी एक महान् क्रांति की। हम इसे महान् क्रांति कहते हैं, क्योंकि यह आज की युग-क्रांति का एक वाहन हो गया। कारण यह है कि अहिंसा की धर्म-कथा वर्त्तमान युग में एक अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता हो गयी है। कोई भी धर्म-कथा जबतक व्यक्तिगत जीवन के अंग रूप में प्रचारित होती है, तबतक वह संतवाणी या ऋषिवाक्य के रूप में व्यक्तियों की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की साधन-मात्र बन कर रह जाती है। लेकिन वही चीज यदि युग-समस्या के समाधान के हेतु जमाने की माँग के साथ जुड़ जाती है तो वह धर्म-चक्र-प्रवर्त्तक यानी युग-क्रांति की वाहक हो जाती है।

जिस समय वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रगति अत्यंत वेग से हो रही थी तथा उसके परिणाम-स्वरूप विराट् औद्योगीकरण का संगठन हो कर

संसार में साम्राज्यवाद का तथा युद्ध-विग्रह का प्रचंड प्रसार हो रहा था, ठीक उसी समय गांधीजी का जन्म हुआ। विज्ञान की प्रगति के नतीजे से साम्राज्यवादी युद्ध की वृत्ति तथा युद्ध की आवश्यकता के कारण विज्ञान-विष-चक्र ने संसार को घेर लिया। मनुष्य की जैसी वृत्ति होती है, उसे ही चरितार्थ करने के लिए वह अपनी सारी शक्ति और बुद्धि लगाता है। अतएव इस वैज्ञानिक युग में यह लाजिमी था। मानव-समाज अपनी हिंसा-वृत्ति चरितार्थ करने में विज्ञान की नयी नयी खोज करने लगा। नतीजा यह हुआ कि वैज्ञानिक आविष्कार की पराकाष्ठा ही ने मनुष्य-समाज के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया। नित नूतन ध्वंसात्मक शस्त्रों के आविष्कार ने मनुष्य को भयभीत कर दिया और फलस्वरूप उसके सामने आत्मरक्षा की एक महान् समस्या खड़ी हो गयी।

आज का हिंसा का सर्वग्राही स्वरूप

आत्मरक्षा सृष्टि की मूल वृत्ति है। अतः जब कभी समाज में इस पर खतरा आ पड़ता है, तो इन्सान व्याकुल होकर इससे अपनी मुक्ति की बात ढूंढ़ने लगता है। मनुष्य-समाज ने यह देखा कि अब समय आ गया है कि यह विज्ञान और हिंसा साथ-साथ नहीं चल सकती। पुराने जमाने में 'अहिंसा परमो धर्मः' के प्रचार के साथ-साथ धर्म-युद्ध में प्राण-त्याग करने पर स्वर्ग प्राप्ति की बात भी कही जा सकती थी, क्योंकि उन दिनों युद्ध मानव-समाज के अस्तित्व के लिए उतना खतरनाक नहीं था। वैज्ञानिक आविष्कार के स्तर निम्न होने के कारण युद्ध सैनिकों तक ही सीमित रहता था। समस्त समाज के आबाल-वृद्ध-वनिता तक उसका असर नहीं फैलता था। तब ऐसा हिसाब करना संभव था कि थोड़ी-सी हिंसा से अगर सारे समाज के अन्याय का प्रतिकार किया जाय, तो वह ग्राह्य हो सकता है। अतः वे सोच सकते थें कि 'अहिंसा परमो धर्मः' होने पर भी सामाजिक अन्याय के प्रतिकार रूपी धर्म-कार्य में हिंसा भी एक पुण्य-कार्य के रूप में ग्रहण की जा सकती है। उससे वे घबराते नहीं थे, क्योंकि इस प्रकार की

हिंसा से सारे समाज के अस्तित्व पर खतरा नहीं पहुँचता था। लेकिन आज ऐसी परिस्थिति नहीं है। आज सामाजिक अन्याय के प्रतिकार के लिये ही सही, अगर हिंसा को ग्राह्य माना जाय, तो विज्ञान रूपी वाहन पर बैठ कर हिंसा की प्रचंड मूर्ति अन्याय के प्रतिकार से पहले ही मनुष्य समाज का नाश कर उस प्रतिकार को भोगने के लिये किसी को शेष नहीं रखेगी।

अब प्रश्न यह है कि वर्त्तमान युग में मानव-समाज के अस्तित्व के लिये अहिंसा की अनिवार्य आवश्यकता होने पर भी, क्या वह आसानी से प्राप्त हो सकेगी? मनुष्य साधारणतया रूढ़िग्रस्त होता है। आधुनिक इतिहास के प्रारंभ से ही वह हिंसात्मक प्रतिकार के यशगान का आदी रहा है। अतः उसके स्वभाव में यह वृत्ति बुद्धिमूल हो गयी है। अब उसे निकाला कैसे जाय? आज समस्त मानव-समाज बुद्धिपूर्वक हिंसा से मुक्ति पाना चाहता है, लेकिन उसका संस्कार उसे इस चक्र से बाहर जाने नहीं देता है। अतः यह आवश्यक है कि बुद्धि की मदद के लिये समाज की परिस्थिति में भी आमूल परिवर्तन किया जाय। संसार में प्रकृति और पुरुष मिलकर ही कुछ प्रगति कर सकते हैं। मनुष्य के विचार तथा बुद्धि रूपी पुरुष को जब परिस्थिति तथा सामाजिक वातावरण का सहारा मिलता है तथा परिस्थिति को जब विचार मिल जाता है, तभी प्रगति की ओर सामूहिक आचार की सृष्टि होती है। अतएव अगर मानव-समाज आज यह महसूस कर रहा है कि उसे जिंदा रहने के लिये आवश्यक है कि दुनिया में अहिंसक समाज की स्थापना हो, तो उसे सामाजिक परिस्थिति का इस ढंग से निर्माण करना होगा कि जिसके सहारे हिंसा-वृत्ति को पोषण न मिल सके।

हिंसा का मूल

आज समाज-शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी को यह अनुभव हो चुका है कि हिंसा की उत्पत्ति शासन और शोषण की वृत्ति से ही होती है। अतः

जबतक समाज में शासन-व्यवस्था तथा शोषण-संस्थाओं का अवशेष बचा रहेगा, जबतक व्यक्ति और समाज हिंसा से मुक्त नहीं हो सकते। इसलिए अहिंसक समाज-रचना के लिये यह जरूरी है कि दुनिया शासन-हीन और शोषण-हीन अर्थात् वर्गहीन हो जाय।

लेकिन यदि समाज शासन-हीन होता है, तो शासन-संस्था के अभाव में क्या दुनिया में एक अव्यवस्थित समाज की स्थापना इष्ट होगी? यदि ऐसा हुआ तो फिर वही समस्या खड़ी हो जायगी, जिसके समाधान में हम दुनिया में राज्य-हीन समाज कायम करना चाहते हैं। अर्थात् हिंसा से मानव के अस्तित्व पर ही जो खतरा आ पहुँचा है, उससे निकलने की चेष्टा में अव्यवस्था के कारण समाज के नाश की ओर जाना पड़ेगा। अतएव हमें ऐसा समाज बनाना है, जो शासन-हीन होते हुए भी पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो।

दंड-शक्ति की वास्तविक जननी कौन?

समाज की सुव्यवस्था के लिए किसी न किसी शक्ति की आवश्यकता है ही। आज यह व्यवस्था दंड-शक्ति के सहारे चलती है। लेकिन इस दंड-शक्ति की पैदाइश कहाँ से हुई? दंड-शक्ति कोई स्वयंभू वस्तु नहीं है। मूल में जन-शक्ति है और फिर उसी शक्ति ने दंड-शक्ति को पैदा किया है, अपने सामूहिक सामर्थ्य के रूप में। यद्यपि जन-शक्ति दंड-शक्ति की जननी है, तथापि आज के जमाने में वह अपनी जननी को ही निर्दलित कर खुद उसकी प्रभु बन बैठी है। फलतः शासन दंड आज संसार की जनता पर इस कदर हावी हो रहा है कि उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं, इसके खोज में वैधानिक किताबों के पन्ने ही उलटने पड़ते हैं। समाज-जीवन में उसकी कोई थाह नहीं मिलती है। वैसी हालत में यदि शासन-हीन समाज कायम करना है तो समाज में हमें ऐसी व्यवस्था कायम करनी होगी, जिससे शासन यानी दंड-शक्ति की आवश्यकता ही न हो।

ऐसा तभी हो सकता है, जब मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की सुव्यवस्था और संचालन के लिए, पूर्ण रूप से जन-शक्ति संगठित होकर दंड-शक्ति को अनावश्यक बना दे।

इसके लिए आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण विकसित हो, ताकि सभी लोग एक ही वर्ग के होने के कारण वे सहकारिता के आधार पर अपनी सारी व्यवस्था चला सके।

आज तो समाज निश्चित रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गया है। व्यवस्था के नाम पर एक छोटा-सा बौद्धिक-वर्ग तथा दूसरा उत्पादनकार्य के लिये विशाल श्रमिक-वर्ग। मुट्ठी भर बौद्धिक वर्ग समाज की व्यवस्था तथा वितरण रूपी सेवा देने के बहाने निरंतर उसका शोषण करता रहता है। समाज की आबादी शोषक और शोषित रूपी दो श्रेणियों में विभाजित रहते हुए सहकारी समाज की कल्पना करना निरा स्वप्नलोक में विचरने जैसा होगा। भक्षक और भक्षितों में सहकार कैसा?

हमारा लक्ष्य

अतएव प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण विकास द्वारा सहकारी समाज कायम करने के लिये यह आवश्यक है कि शोषण के आधार-स्तम्भ रूपी वर्ग-विषमता को जड़ से समाप्त कर दिया जाय। इस तरह हम देखते हैं कि शासन और शोषण की संस्थाओं का अंत किये बिना हम अपने उद्देश्य तक पहुँच नहीं सकते। लेकिन आज समाज में शासन तथा शोषण की संस्थाएँ एक दूसरी से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि बिना आमूलाग्र क्रांति के, मानवता का उद्धार तो दूर की बात है, समाज को सामान्य प्रगति भी असंभव दीखती है। अर्थात् हमें नया समाज तथा नया मनुष्य बनाने की दिशा में एक महान् क्रांतिकारी कदम उठाना होगा।

इसी उद्देश्य को सामने रख कर गांधीजी आखिरी दिनों में नया समाज बनाने की बात जोरों से करने लगे थे और इसके लिए उन्होंने शिक्षा में अहिंसक क्रांति की बात कही। मानव के विकास में शिक्षा ही एकमात्र बुनियाद होती है। यही कारण है कि युग-युग के महापुरुष अपनी कल्पना के समाज-निर्माण के हेतु शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करते रहे हैं।

सहकारी समाज की दिशा में

पहले ही कहा गया है कि शासन-हीन और वर्ग-हीन समाज-रचना के लिये आवश्यक है कि संसार में दंड-निरपेक्ष तथा जनशक्ति-सापेक्ष सहकारी समाज कायम हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की मूल इकाई में ही मनुष्य हरेक दिशा में स्वावलंबी हो। यह कैसे हो सकता है? आज तो जनता की मूल इकाई अशिक्षित तथा अकिंचन है। उसे तो किसी विशिष्ट वर्ग के भरोसे ही चलना पड़ता है। इसलिये हमें प्रत्येक व्यक्ति को इस तरह शिक्षित करना होगा, जिससे उनमें आत्म-व्यवस्था की शक्ति का विकास हो। यही कारण है कि गाँधीजी ने अपनी नई तालीम पद्धति में शिक्षाके माध्यम में ही आमूल परिवर्तन किया। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक वातावरण को शिक्षा का माध्यम बनाया। उत्पादन की प्रक्रिया को माध्यम मानने के कारण ही यह संभव हो सकेगा कि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो सके, क्योंकि ऐसा न करने से आज जो विशाल जन-संख्या प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम में लगी हुई है, वह शिक्षा से वंचित हो जायगी, क्योंकि उत्पादन-कार्य से निकाल कर उसे शिक्षा देने की चेष्टा में समाज का उत्पादनकार्य ही बंद हो जायगा। जब किसी विशिष्ट वर्ग को व्यवस्थापक के नाम पर रखना ही नहीं है, तब यह आवश्यक है कि आज जो अनुत्पादक शिक्षित वर्ग है, उसे भी उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास हो। तभी प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो कर समाज में शिक्षित तथा वैज्ञानिक उत्पादकों का एक ही वर्ग रह जायगा।

लेकिन इतने मात्र से ही उनमें स्वावलम्बी व्यवस्था की शक्ति नहीं आयेगी। छुटपन से ही अगर समाज की समस्याओं की जानकारी तथा उसके समाधान का अभ्यास नहीं रहेगा, तो वे सब आपस में मिलकर समाज की सुव्यवस्था कायम नहीं रख सकेंगे। इसलिए यह भी आवश्यक है कि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तथा उसके समाधान की चेष्टा शिक्षा का एक महत्वपूर्ण माध्यम हो।

—श्री धीरेन्द्र मजूमदार

: साहित्य-निर्माण :

हिन्दी साहित्यकारों के ही सामने नहीं बल्कि भारत की सभी भाषाओं के साहित्यकारों के सामने यह प्रश्न है कि साहित्य-निर्माण के कार्य को कैसे आगे बढ़ाया जाय, ताकि विश्व की उन्नत भाषाओं के सामने हम अपने साहित्य को रख सकें । जिस समय देश परतन्त्र था, एक विदेशी भाषा हमारे यहां की सर्वेसर्वा थी, उस समय हम अपनी सारी कमियों को अपनी परवशता के वहाने टाल सकते थे, यद्यपि उस समय भी हमारे देश ने रवीन्द्र और 'प्रसाद', प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र जैसे साहित्यकार पैदा किये। अब हमारे लिए वह भी वहाना नहीं रह गया है । साहित्य के स्तर को भी हम अपने देश के भीतर के मान से अब नहीं तैयार कर सकते, क्योंकि परतन्त्रता के बाँध के टूट जाने से अब हम विश्व के साहित्य-सागर से सम्बद्ध हो चुके हैं ।

मैं इस बात को नहीं मानता कि हमारे साहित्य की आज जो स्थिति है, वह निराशाजनक है। वैसे वर्तमान से सन्तुष्ट न रहना बुरी बात नहीं है। हमें जितनी दूर पहुँचना है, उसे ध्यान में रखते हुए गति को तीव्र करने की व्यवस्था करनी है। लेकिन यदि हर शताब्दी में कालिदास और शताब्दी में प्रेमचन्द न पैदा हों, तो इसके लिए निराश होने की क्या आवश्यकता ? 'शैले शैले न माणिक्यं, मोक्तिकम् न गजे गजे' की कहावत साहित्य के देश-काल पर भी घटित होती है।

हिन्दी में आमतौर से शिकायत सुनने में आती है कि हमारे यहाँ साहित्य सृजन में गति-अवरोध आ गया है। साहित्य सृजन नहीं हो रहा है, यह

तो कोई नहीं कह सकता क्योंकि हमारे यहाँ किसी भी समय इतनी पत्र-पत्रिकाएँ नहीं थीं; न इतनी कविताएँ, कहानियाँ और निबन्ध कभी छपते थे। कवियों की तो यह बात है कि राजस्थान के रेगिस्तानी नगर में भी चालीस-पचास कवियों का मिल जाना मुश्किल नहीं। जोधपुर में तो एक साधारण बैठक में एक दर्जन ऐसे तरुण कवि देखे, जिनकी कविताएँ नीचे दर्जे की नहीं कही जा सकतीं। एक कवि जितनी पंक्तियाँ जोड़ता है, सभी सुकाव्य नहीं होतीं, यह बात जैसे आज के कवियों पर घटित होती है; वैसे ही किसी भी समय या देश के कवियों पर घटित हो सकती है। खय्याम ने जीवन भर में केवल चार सौ ही रूबाइयाँ नहीं लिखी होंगी। उसकी चार सौ रूबाइयाँ सारभूत हैं, उन हजारों पद्यों की, जिन्हें उसने अपने जीवन भर में रचा, अपना और अपने मित्रों का मनोरंजन किया और फिर बहुतों को फाड़ दिया होगा। इसमें शक नहीं कि ऐसे भी कवि हैं, जो अपनी हर एक पंक्ति को सारे काव्यगुणों से परिपूर्ण समझते हैं। किन्तु वे ऐसा करके अपने साथ न्याय नहीं करते। व्यक्ति ही नहीं राष्ट्र के लिए भी यह बात ठीक जचती है। बड़ी राशि में से छँटते-छँटते थोड़ी सी बच रहती है। यह छँटाई कभी कभी खय्याम की तरह बुद्धि-पूर्वक की जाती है और कभी-कभी इसे काल पर छोड़ दिया जाता है। काल की छँटाई कभी-कभी बड़ी निष्ठुर होती है। वह जुआ के खेल की तरह होती है।

साहित्यकार के साथ उसके समसामयिक कितनी ही बार अन्याय कर बैठते हैं, वे उसके मूल्य को नहीं समझते। उनमें से कितने ही साहित्यकार के चल बसने पर पश्चाताप करते हैं और कितने ही अपने जीवन भर अपनी बात पर अड़े रहते हैं। यह भी एक कारण है कि हम अपने समसामयिक साहित्यकार की कितनी ही कृतियों का ठीक से मूल्यांकन नहीं कर पाते। पिछले दस वर्षों के गद्य-पद्य पर जब हम एक दृष्टि डालते हैं, तो मात्रा में ही नहीं गुणों में भी उसमें कोई ऐसी बात नहीं देखते, जिससे हम यह कह सकें कि हिन्दी साहित्य में गति अवरोध हो गया है। हर एक कवि की हर

एक कविता बड़े ऊँचे दर्जे की होगी, इसकी तो कभी भी आशा नहीं की जा सकती, किन्तु हिन्दी के एक दर्जन ऐसे कवि अवश्य हैं, जिनको कवि कहा जा सकता है, जिनकी कृतियों में पाठकों को रस और चमत्कार दिखाई पड़ता है। कथाकारों और निवन्धकारों में भी हमें कल्पना और सूझ की दरिद्रता नहीं दिखाई पड़ती। हां, यह त्रुटि अवश्य खटकती है कि हमारे प्रतिभाशाली साहित्यकार आदि-शूर अधिक देखने में आते हैं, लेकिन वे थोड़ी सफलता मिलते ही अपनी पुरानी कमाई पर जीवित रहना चाहते हैं।

अपनी वर्तमान प्रगति से संतुष्ट हो जाने की वात में नहीं करता किन्तु मैं तो जितनी भाषाओं से परिचय रहता हूँ और जिनके साहित्य मेरी आँखों के सामने से गुजरते हैं उनकी तुलना करने पर गुण में हिन्दी के साहित्य को वहुत पीछे नहीं देखता। यह दूसरी बात है कि किसी पर अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच या रशियन भाषा का रोव हो और उसी भाव को इन भाषाओं में व्यक्त करने पर उसकी हृदयतंत्री झंकृत हो उठे, और हिन्दी में कहने पर वह मामूली-सी जँचे। हमारे साहित्यकारों में भी कितने ही ईर्षा से बहुत ऊपर नहीं उठे होते, और कितनी ही वार निर्णय लेने में भी वे ईमानदारी के साथ गलती कर जाते हैं। यह कोई नयी वात नहीं है। ताल्सताय ने रूसी अनुवाद में शेक्सपियर को पढ़कर उसके प्रति जो हीन धारणा कायम की, उसे मूल अंग्रेजी में पढ़ने के बाद भी उसने उसी तरह जोर देकर दोहराया। इस तरह के समालोचक या राय कायम करने वाले बहुत कम होते हैं। हिन्दी के साहित्यकारों के प्रति और अधिक उदारतापूर्वक धारणा वनाने की आवश्यकता है। हमारे सभी कवि या कथाकार या निवन्ध-लेखक सड़ियल, तीसरे दर्जे के लिख्खाड़ हैं, यह धारणा गलत है। साहित्य सृजन की गति को हम ज्यादा वढ़ा सकते हैं, मात्रा और गुण में भी उसे ऊँचा उठा सकते हैं; यदि हम हिन्दी के कलाकारों पर निष्पक्ष होकर विचार करें। मैं ऐसे कितने ही साहित्यकार तरुणों का नाम दे सकता हूँ, जिनकी कृतियाँ मेरे जैसे शुष्क हृदयवाले व्यक्ति को भी प्रभावित करती हैं, लेकिन उनका नाम मैं देना नहीं चाहता, क्योंकि इससे किसी और के

साथ अन्याय हो सकता है। प्रेमचन्द के जीवन में उनको परखनेवाले भी थे, किन्तु ऐसे भी साहित्यिकों की कमी नहीं थी जो उनके महत्व को नहीं समझते थे। यह बात आज के भी हमारे कितने ही साहित्यकारों के सम्बन्ध में घटित होनी विल्कुल संभव है।

साहित्य सृजन के लिए साहित्यकार को कुछ सुविधाओं की आवश्यकता है, जिससे हमारे अधिकांश साहित्यकार वंचित हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलम उठाते ही साहित्यकार को मान्यता और सारी सुविधाएँ प्राप्त हो जायंगी, किन्तु जब किसी तरुण में साहित्य-प्रतिभा की परख हो गयी तव भी सुविधाएँ न मिलना उसके कार्य में भारी बाधा उपस्थित करता है। आज का जीवन संघर्ष का जीवन है, जिसमें पड़कर साहित्यकार के लिए अपना काम आगे वढ़ाना मुश्किल हो जाता है। हमारे यहाँ तरुणाई और वुढ़ापे में वहुत कम समय का अन्तर है, क्योंकि आहार, निवास, आदि के दुष्प्रवन्ध से स्वास्थ्य जल्दी खराव हो जाता है। कुछ साहित्यकारों के लिए तो आवश्यक है कि उन्हें स्वस्थकर स्थान सुलभ हो, जहाँ वे स्वास्थ्य सुधार के साथ-साथ अपने कार्य को जारी रख सकें, लेकिन इसकी ओर न सरकार का ध्यान है और न कुछ कर सकने वाले व्यक्तियों का ही। एक शिक्षित धनाढ्य सज्जन ने मुझसे कहा कि साहित्यकारों की सुख-सुविधा की ओर हमें ध्यान देना चाहिए। उन्होंने साथ ही यह भी कह डाला कि नहीं तो उनकी कलम वहक जाती है। वहक जाने से उनका मतलब था धनिक-तन्त्रता के विरुद्ध काम करना। मसूरी में मेरे निवास के पास एक वड़ा ही उपयुक्त वंगला है जिसके मुख्य भाग में आठ स्नानगृह तथा पास के आउट हाउस में भी दो स्नानगृह हैं; अर्थात् उसमें दस वारह साहित्यकार सपत्नीक रह सकते हैं। बँगले का दाम ४२ हजार कहा जाता है। उसकी मरम्मत और कुछ रक्षित धन मिलाकर ५०—५५ हजार लगेगा। उसके साथ वैसे ही आठ एकड़ भूमि है किन्तु दो एकड़ के करीब में तो खेत बने हुए हैं। सिंचाई के लिए पानी जमा करने का अच्छा कुंडगृह भी है।

विशेषज्ञ का कहना है कि दो माली रख देने पर इस भूमि से छः हजार वार्षिक की आय हो सकती है। अर्थात् एक वार ५०–५५ हजार प्रदार कर देने पर यह लेखक का स्वास्थ्य-आश्रम अपने आप चलता रहेगा। इस उक्त सज्जन ने कहा कि आप इस काम को अपने हाथ में लीजिये। मेरे लिए अव अपने कामों को सीमित रखना ही अच्छा है। लेकिन मैं यह वतलाना अवश्य चाहता हूँ कि साहित्यकारों को ऐसी सुविधाएँ हमारे यहाँ भी प्राप्त होनी चाहिये जिससे कि वे निश्चिन्त होकर अपने कार्य को कर सकें।

हिन्दी को इस योग्य वनाना आवश्यक है कि विश्व के सभी साहित्यों की अनमोल निधियां हिन्दी के माध्यम द्वारा प्राप्त हो सकें। लेखक और साहित्यकार का अध्ययन जितना ही विशाल हो उतना ही अच्छा और अव तो जव हिन्दी भारत की राजभाषा हो गई है, उसका स्थान विश्व के स्वतंत्र देशों की समुन्नत भाषाओं में होने जा रहा है, उस समय तो यह और भी आवश्यक है कि हिन्दी द्वारा विश्व की सभी भाषाओं, सभी ज्ञान-विज्ञानों की सामग्री प्रस्तुत की जाय। यह कोई कठिन काम नहीं है। हमारे हिन्दी-भाषी-भाई दुनियाँ के सभी हिस्सों में पहुँचे हुए हैं। बहुत-सी भाषाओं के ज्ञाता भी उनमें मिलेंगे। हिन्दी पाठकों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्रामाणिक तथा अच्छे ढंग से लिखी किसी पुस्तक के दो-तीन हजार के संस्करण का सालभर में खतम हो जाना मुश्किल नहीं है। यह प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति ने विश्व साहित्य और विश्व की प्रधान भाषाओं को हिन्दी द्वारा सीखने के लिए ग्रन्थों के निर्माण का काम अपने हाथ में ले लिया है। फ्रेंच-स्वयं-शिक्षक प्रेस में जा चुका है, जर्मन और रूसी स्वयं-शिक्षक तैयार हो रहे हैं। हमारी भारत की ग्यारह-बारह भाषाओं के भी स्वयं-शिक्षक, व्याकरण, साहित्य-इतिहास, कविता-संग्रह तथा कोश एवं पांच प्रतिनिधि ग्रन्थों के अनुवाद की योजना को कार्यरूप में परिणित करने का काम शुरू हो गया है। छः भारतीय भाषाओं के साहित्य के अधिकारिक इतिहास ग्रन्थ मार्च मास तक प्रकाशन के लिए

तैयार हो जायेंगे। "भारतीय वाङ्मय-परिचय" (भारत की १४ भाषाओं के साहित्य का संक्षिप्त इतिहास) भी प्रेस में जान के लिए प्रस्तुत है।

हिन्दी साहित्यकार अपने सृजन कार्य में किसी से पीछे नहीं रहेंगे इसका मुझे विश्वास है। हाँ, उनके लिए साधन और सुविधा प्रस्तुत कर देना सबका कर्त्तव्य है।

—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

: साहित्य की शक्ति :

मनोवैज्ञानिक संशोधक : ब्रह्मर्षि

एक चिंतन की शक्ति होती है, जो आत्मा की गहराई में जाकर विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश करके जीवन के सिद्धान्तों का शोध करती है। इस चिंतन शक्ति के अभाव में समाज लूला बन जायगा, प्रगति रुक जायेगी। भौतिक, वैज्ञानिक संशोधनों के लिए जिस प्रकार एकांत चिंतन की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक संशोधनों के लिए भी एकांत सेवन करना पड़ता है। ऐसे एकांत से ही जो ब्रह्मर्षि होते हैं, वे संसार को जीवन के तत्वज्ञान का चिंतनात्मक सार देते हैं, जिसमें जीवन की समस्याओं का हल रहता है।

समाज-सेवक : राजर्षि

दूसरी शक्ति सेवा की होती है। ब्रह्मर्षियों द्वारा प्राप्त चिंतनशक्ति के आधार पर समाज-सेवक लोकसेवा में रत रहते हैं, जिन्हें राजर्षि कहते हैं। ऐसे सेवा करने वाले सेवक समाज में न रहें तो समाज का न केवल एक अंग क्षीण हो जायगा, बल्कि सारा समाज शुष्क हो जायगा।

इस तरह की समाज-सेवा करने वाले विचारक समाज में आवाज बुलन्द करते हैं, आन्दोलन की जरूरत हो तो आन्दोलन खड़ा करते हैं. संगठन की जरूरत हो तो संगठन बनाते हैं और अगर कभी लोगों की इच्छा से सत्ता भी ग्रहण करनी पड़े तो वैसा भी करते हैं। सत्ता ग्रहण करने वाले

ये लोग केवल सेवापरायण होते हैं। उनका निज का कोई स्वार्थ नहीं होता। इधर ब्रह्मर्षियों से वे विचार लेते हैं, उधर समाजसेवा के क्षेत्र में उन पर अमल करते हैं। पुरानी परिभाषा में उन्हें राजर्षि कहते हैं। ज्ञानपूर्वक, लोक-रंजन करते हुए लोक-सेवा में लगे हुए ये राजर्षि भी समाज की एक बड़ी शक्ति हैं।

निर्विकार, कुशल साहित्यिक : देवर्षि

तीसरी शक्ति साहित्य की है। जिन विचारों का ज्ञानियों को अनुभव होता है, और जो आत्मा की गहराई में सिद्ध हो चुके होते हैं, उन विचारों को लोकवाणी में लोगों को ग्रहण हो सके, ऐसे चुने हुए शब्दों में वे ज्ञान प्रकट करते हैं। इसमें विचार को तो पहचानना पड़ता ही है, लेकिन उस विचार को वाणी का पहनाव पहनाना पड़ता है। वरना उचित शब्दों के अभाव में प्रकाश के बजाय अप्रकाश भी हो सकता है। विचार तो अंतर की गहराई में होता है। जब उसे प्रकट करने जाते हैं, तब किसी एक शब्द का सहारा लेना पड़ता है, तब कुछ न्यूनता रहने की संभावना होती है। दूसरा शब्द इस्तेमाल करें तो कुछ अतिरिक्त भाव भी प्रकट हो सकता है। दोनों का प्रयोग करें तो कोई विपरीत भाव भी प्रकट हो सकता है। इसलिए एक-एक शब्द के बारे में विवेक रखना पड़ता है, ताकि न न्यून-भाव प्रकट हो, न अतिरिक्त-भाव, न विपरीत भाव। इन विभिन्न दोषों को टालकर विचार ठीक जैसे का तैसा कर प्रकट कर सकना चाहिये। यह तीसरी शक्ति—जनता के हृदयों तक विचार पहुंचाने की कुशलता की शक्ति—जिनमें होती है, उन्हें देवर्षि कहते हैं।

ब्रह्मर्षियों की मिसाल देनी हो तो हम वशिष्ट, याज्ञवल्क्य के नाम ले सकते हैं। देवर्षियों में नारद प्रसिद्ध ही हैं। राजर्षियों में जनक महाराज सुप्रसिद्ध हैं, जो निरंतर जन-सेवा में लगे रहते थे। यह जरूरी नहीं है कि ऐसे लोग राजा ही हों। वे लोगों की सेवा में लीन हैं इतना काफ़ी है।

साहित्यकारों की साधना का पथ

इस तरह साहित्यकारों को लोक-हृदय के अनुकूल परिपूर्ण शब्द प्रकट करने की कुशलता साधनी चाहिये, अर्थात् सम्यक्, मधुर और कुशल तीनों तरह की बानी बोलना, जिसमें न्यून, अतिरिक्त और विपरीत भाव न हों, एक महान साधना है, जो उसी को सधती है जिसे अपना निज का कोई विकार न हो। जो निज का विकार रखता हो वह इस तरह की सम्यक् वाणी नहीं प्रकट कर सकता। थर्मामिटर को खुद का बुखार नहीं होता, इसलिए वह दूसरे का बुखार नाप सकता है। जिसको खुद का बुखार होता है, वह दूसरे का बुखार नहीं नाप सकता। इसी तरह जिसे खुद को कोई विकार न हो, वही दूसरों के लिए सम्यक् वाणी दे सकता है। जिसको खुद को विकार हो, वह निर्विकार विचार दे नहीं सकता।

तीन ऋषियों के तीन महान् लक्षण

नारद सबसे मिलते थे। देव, दानव, मानव, सब लोगों में हो आते थे। तो यह जो दिव्य शक्ति वाक्-प्रचार की है, वह उसी को सधती है, जिसके पास उत्तम भक्ति हो। जैसे ब्रह्मर्षि का लक्षण चिंतन-शक्ति है, राजर्षि का लक्षण उसकी निरहंकार सेवा-भावना है, वैसे ही देवर्षि का लक्षण है—सबके लिए प्रेम से भरा हुआ दिल। सबके विकारों को परखने के लिए बुद्धि की तटस्थता, वाणी की निर्विकारता और अपने बारे में निर-हंकारता जरूरी है। जहां सूक्ष्म बुद्धि के मनन करके वाणी का उपयोग किया जाता है, वहां सब तरह की शोभा, ऐश्वर्य, वैभव, सौंदर्य और आनंद की वृद्धि होती है।

साहित्य की शक्ति का स्रोत

किन्तु जिस देश में लोग असम्यक्-वाणी प्रकट करते हैं, जो जी में आया लिख डालते हैं और चूंकि संपादक बने हैं इसलिए किसी भी तरह का क्यों न हो शीघ्र प्रकाशन पसन्द करते हैं, सारांश किसी भी तरह कॉलम

भरने की जिम्मेदारी पूरी कर देना पर्याप्त समझते हैं, समय और स्थान की कोई पाबंदी महसूस नहीं करते, जिस देश में इस तरह वाणी का दुरुपयोग होता है, उस देश में लक्ष्मी स्वप्नवत् रहने वाली है। अगर आपको मनन करने के लिए अवसर नहीं मिलता है, तो एक कॉलम कोरा रखा जा सकता है। यह तो मैंने सहज ही कहा। मैं जानता हूं कि हिन्दुस्तान के अखबार-वाले कुल मिलाकर काफ़ी विवेकी हैं। हिन्दुस्तान की तालीम की सतह ध्यान में रखते हुए यही कहना होगा कि हमारे अखबारवाले काफ़ी संयम रखते हैं। संयम तो हमारी संस्कृति में ही पड़ा है। रघुवंश में बताया है कि सत्ययुक्त और मनन-युक्त वाणी, जो नित्य-मधुर, लोक-सुलभ, लोक-ग्राही हो, तो उससे एक बड़ी भारी शक्ति प्रकट हो सकती है।

हमारे यहां के साहित्य में जो सद्विचार जिस तरह प्रकट हुआ है, उस तरह शायद ही दूसरी जगह हुआ है। इस देश में ब्रह्म-विचार का मनन हुआ। इस देश में जनक और अशोक जैसे महान सेवक हुए, इस देश में व्यास, वाल्मीकि और शुक्र जैसे अद्वितीय कवि और विचारक निर्माण हुए और उनकी परम्परा यहां चली। उनका संदेश अनेक भाषाओं में प्रकट हुआ। एक बहुत बड़ा आदर्श हमारे सामने उन्होंने रखा।

आज हमारे सामने जो समस्याएं हैं, वे छोटी नहीं हैं, और हमारे देश को जो मौका मिला है, वह भी छोटा नहीं है। हमारे देश ने एक दूसरे ढंग से आज़ादी हासिल की है, इसलिए सारी दुनियां को इस देश से एक विशेष आशा है। उसका ख्याल रख कर अगर यहां के साहित्यिक चिन्तन करेंगे तो बहुत बड़ी सेवा वे कर सकेंगे। इस जमाने में भी हमारे देश ने अरविन्द घोष जैसे ब्रह्मर्षि, रवि ठाकुर जैसे देवर्षि और गांधीजी जैसे राजर्षि पैदा किये। ऐसे महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित है। उन सबको ध्यान में रखकर जिस तरह देश की शोभा बढ़े, ऐसी साहित्य-सेवा हमारे साहित्यिक करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूं। मैं इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता। बहुत बड़ी शक्ति हमारे पास है, क्षेत्र भी

उतना ही बड़ा है। हमारे अन्दर आत्मा है बाहर यह सारा विश्व-रूप है। देहरीद्वार की तरह वाणी दोनों के बीच खड़ी है—उस पुल की तरह, जो नदी के दोनों किनारों को जोड़ता है। इसलिए अगर हम वाणी ठीक प्रकट करते हैं, तो उस वाणी से सारी दुनियां को सजाते हैं। सारी दुनियां को प्रकाशित करते हैं, सारी दुनियां की सेवा करते हैं। इसलिए हमें ऐसी ही शक्ति संग्रह करनी चाहिए।

—संत विनोबा भावे

[६]

: राजनैतिक क्षेत्र :

(१) भारत की एकता
(२) नागरिकता का आदर्श
(३) नया चुनाव
(४) परराष्ट्र नीति



: भारत की एकता :

भारत से यद्यपि पाकिस्तान के नाम पर पूरब और पश्चिम से कुछ हिस्सा कट कर अलग हो गया है, लेकिन बाकी सब एक विधान के नीचे जुट कर इकठ्ठा भी हो गया है। छोटी-मोटी रियासतें विलीन हो गई हैं और अब भारत बिखरा हुआ नहीं हैं। एक विधान, एक अध्यक्ष, एक कैबिनेट, एक कानून। राजभाषा भी एक। वही धीरे-धीरे आशा है, राष्ट्र की भाषा भी हो जायगी। भारत अब मुट्ठीबन्द है और बाहर के हर प्रहार को व्यर्थ कर सकता है।

पढ़ने में आया है कि यह अभूतपूर्व घटना है। इतिहास में पहले कभी ऐसा नहीं हुआ। भारत अबतक एक नाम रहा है। यह आज की तरह मूर्त और प्रत्यक्ष कभी नहीं हुआ।

इस सबके लिए हम राष्ट्र-पिता कहकर महात्मा गांधी को याद करते हैं। उन्होंने हमको राष्ट्र दिया, उसकी आजादी और एकता दी, स्वयं राष्ट्रीयता ही दी। सरकार, जो भारतीय एकता की प्रहरी और प्रतीक है, गांधी के नाम की ताक़त से हुकूमत करती है।

लेकिन अपनी सरकार बनी तब गांधी तो थे। क्या वह इस राज-कामी एकता से सन्तुष्ट थे? फिर राजधानी दिल्ली के जश्न में वह क्यों शामिल न हुए? क्यों भागकर उस पिछड़े और बिछड़े भाग में पहुँचे जहाँ आदमी आदमी का दुश्मन बन गया था? वहाँ नंगे पाँव घूमकर घर-घर उन्होंने अलख जगाई कि आदमी चेते, दुई से छूटे और एके में रहे। उन्होंने

धुन दी, 'ईश्वर,अल्ला एकहि नाम, सबको सन्मति दे भगवान्'। वही है और वह एक है। ईश्वर कहो या अल्ला कहो, या कुछ भी कहो, हम-सब एक उसमें हैं। अरे, कौन तुझे ग़ैर है ? वहाँ सब तेरे हैं और तू सबका है।

लेकिन जो एकता हमने खड़ी की है वह और नमूने की है। वह निरी भावुक नहीं है, ठोस है। उसका दस्तावेज है, उसका तन्त्र है। फ़ौज है, जो उसे सुरक्षित रखेगी; कानून है और उसका न्यायालय है, जो भीतर से उसे बाँधे रखेगा। वह एकता सरकारी है।

निश्चय, बड़ी प्रसन्नता की बात है।

लेकिन कहीं सन्तोष की बात यह न मान ली जाय। कारण एकता सरकार में पहुच कर असल नहीं होती, मन में उतर कर ही वह सही होती है।

ब्रिटिश साम्राज्य भी यों एक था और कितना अडिग लगता था। पर वह खण्ड-खण्ड हुआ और लुप्त हो गया। राज्य बने हैं, उठे हैं, और मिट गए हैं। साम्राज्यों के साथ यही लीला हुई है। कानून में से एकता नहीं बनती। अधिक-से-अधिक वह वहाँ प्रतिविम्बित हो सकती है।

भारत समूचे इतिहास में शायद ही कभी एक राज्य हो रहा हो। रहा भी होगा तो अत्यन्त अल्पकाल के लिए। नहीं तो यहाँ सदैव अनेकानेक राजा और अनेकानेक राज्य रहते आये हैं। उनमें अनबन रही है और वे लड़ते-झगड़ते रहे हैं। राज्य हो और फूट न हो, यह बनता ही कब है ? बाहर से भी आक्रमण होते रहे हैं। लेकिन इस सब के बीच भारतीयता टूटी नहीं है। वह अखण्ड, अजस्र, अविच्छिन्न रही है। जाने भूमण्डल पर कितनी संस्कृतियाँ उठी और गिरीं; पर भारत के साथ ऐसा हुआ नहीं दीखता है।

क्यों ?

इस 'क्यों' का उत्तर पाना आवश्यक है। आज के दिन और भी आवश्यक है। कारण, गांधी आज नहीं हैं—गांधी जो भारत की सनातन चेतना का प्रतीक थे, जो भारत की आत्मा थे।

इस 'क्यों' के उत्तर में क्या हम यह नहीं पाते कि भारत की दृष्टि राज्य से अन्यत्र रही है; और उसके लिए महत्व भी कहीं दूसरी जगह रहा है। भारत का नेता आज के दिन भी गांधी हुआ, जो किसी तरह बड़ा न था और हर तरह साधारण था। राजा न था, फ़क़ीर था। यदि था तो आत्मा की ओर से महान था, अन्यथा, हीनातिहीन से समान था इसी में क्या भारत की ओर का उत्तर समाया नहीं है?

अर्थात् राज्य में और राजाओं (शासकों) के पास वह नहीं है जो जीवन में सारभूत है। वहाँ सत्य नहीं है, वहाँ ऐक्य नहीं है। वहाँ लालसा है, स्पर्द्धा है। दल एक हो कि अनेक हों, विधानसंघीय (Federal) हो या एकात्मक (Unitary) हो; तन्त्र इस प्रकार का हो या उस प्रकार का हो—इससे कुछ आता-जाता नहीं है। जनता महासागर है, उसकी छाती पर उठने वाली लहरों के साथ खेल खेलना राजनीति है। जन-मन की जितनी झलक वहाँ है—बस उतनी ही राजनीति में वास्तविकता है, शेष व्यर्थता है। जन-मन सरकारी कानून से नहीं चलते ईश्वरीय कानून से चलते हैं। इसलिए भाग्य और भविष्य जन-मन के साथ है। और वह उनके हाथ है जो ईश्वरीय कानून के साथ अधिक-से-अधिक तत्सम होकर चलते हैं।

राजा अपनी प्रभुता में अनेक रहे हैं, और जीवन-भर राज्य-विस्तार या राज्यापहरण के लिए पराक्रम करते रहे हैं। फिर भी भारत ने राम को और कृष्ण को याद रक्खा है, जिनपर राजत्व टिकता हुआ दीखता तक नहीं है। बुद्ध, महावीर को याद रक्खा, जिन्होंने राज्य का परिहार किया। शंकर-चैतन्य को और नानक-गांधी को मान दिया कि जो निरीह बन गए। भारत की आत्मा ने इनको पहचाना और राजाओं के ऊपर

होकर यहाँ से वहाँ तक का भारत इनके प्रभाव के नीचे पनपा। भारत की कल्पना राजाओं और राजनेताओं पर नहीं अटकी। उनके पार आत्म-चेताओं पर वह ध्रुव बांधकर जमी रही। परिणाम यह हुआ कि समूचा भारत एक आदर्श, एक अभिलाषा, एक संस्कृति में अनुस्यूत रहा। ऐसे ऋषिकाय महाप्राण पुरुषों की स्मृति में जहाँ-तहाँ तीर्थ बने और साधुओं एवं यात्रियों की टोलियों ने तीर्थंकारों के जीवन-मनन और तीर्थों के पर्यटन से समूचे देश में एक ऐक्य को जीवन्त रखा। लड़ाइयाँ होती रहीं; लेकिन जनता अपने कर्म-श्रम में अविचल रही। भारत के ये अधिष्ठाता पुण्य-पुरुष जन-मन की भावना-कल्पना से एक क्षण के लिए भी ओझल नहीं हुए।

भारत की एकता यदि आत्मवान पुरुषों में प्रत्यक्ष नहीं होती है, बल्कि राज्यविधान और राजदण्ड में ही वह प्रत्यक्ष होती है, तो कहना होगा कि वह अपेक्षाकृत जुटाई गई है, प्राणों में उपस्थित नहीं है।

भारत एक था, है, और रह सकेगा तो आत्मा द्वारा। अन्यथा उसकी एकता अनेकता को जन्म देने लग जायगी और यह पराधीनता को निमन्त्रण देना होगा।

आवश्यक है कि उस तरफ हमारा ध्यान जाय। भारत में कई भाषाएँ हैं और लगभग सब के पास समृद्ध साहित्य है। उसमें देश की आत्मा ध्वनित होती है। भाषा-भेद की वजह से साहित्य भी प्रान्तों में बँटकर और बन्द होकर रह जाय तो यह आत्मघात के समान होगा। अँग्रेजी के बीच में आने से यही हुआ है। मौलिक साहित्य, जो यहाँ की धरती से सिंच कर बना है, प्रान्तों में सिमट कर रह गया है और अँग्रेजी के जरिये चलने वाली राज-नीति सब के निकट आत्मीय बन आई है। आज भारतीय कुछ है तो सिर्फ राजनीति है। मानों इधर सब कुछ केवल प्रान्तीय और एकदेशीय है। इस स्थिति में भारत की निजता उभरने वाली नहीं है, दबी ही रहनेवाली

है। अंग्रेजों के जाने का मतलब अंग्रेजियत का जाना ही यदि नहीं है तो गाँधी का हमारे बीच आना व्यर्थ मानना चाहिए।

आज हिन्दी राजभाषा है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं है। अर्थात् कानून की और आपसी व्यापार की नहीं, बल्कि, जीवन की अर्थात् आपसी स्नेह की भाषा उसे बनना होगा। आदान-प्रदान की वह धरती उसे बनना होगा जो हमारी एकता को धारण करे। भीतर से एक होता हुआ भारत ही दुनिया में अपनी जगह रख सकेगा और विश्व की भविष्यता में अपना पूरा दान दे सकेगा।

वैसा प्रयत्न आज तो लगभग नहीं है। पर अधिक काल उसको टालना खतरे की बात होगी। राजनीतिक एकता हमको डस जायगी अगर भीतर उसके सांस्कृतिक सत्त्व न होगा। वह छावनी की—'टोटेलिटेरियन डिक्टेटरी' की—एकता होगी।

—श्री जैनेन्द्र कुमार

———

: नागरिकता का आदर्श :

पुराने जमाने में राज्य करीव-करीव राजा का निजी अधिकार समझा जाता था। राजा का मुख्य काम अपनी प्रजा पर कर लगाना और बाहरी हमलों और भीतरी गड़बड़ और डाकुओं वगैरा से उसकी रक्षा करना था। अपने आदमियों को थोड़ा-सा सुरक्षित बनाकर ही उसका काम समाप्त हो जाता था। अगर वह इतना कर लेता था और करों का बहुत डालने वाला बोझ नहीं लादता था, तो वह अच्छा राजा समझा जाता था। ऐसे राज्यों को 'पुलिस-राज्य' कहा गया है; क्योंकि सरकार का मुख्य कर्त्तव्य पुलिस के कर्त्तव्य की किस्म का था। हमारे भारतीय राज्य भी बहुत कुछ उसी तरीके के थे। जरूरी भेद बस इतना है कि उन्हें अपने आपको बाहरी हमलों से नहीं बचाना पड़ता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार भी मुख्यतः पुलिस सरकार ही थी। उसने राज्य की शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, औषधि, सफाई की तरक्की के लिए कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे परिस्थितियों ने मौजूदा राज्य के अनेकानेक कामों में उसे दिलचस्पी लेने के लिए बाध्य किया, हालांकि उसकी दिलचस्पी ज्यादा आगे नहीं गई और उससे नतीजा भी कुछ नहीं निकला।

पहले-पहल शहरों में नागरिकों के लिए रक्षा-मात्र से कुछ अधिक करने के लिये विचार पैदा हुआ। शहरों में बहुत से आदमियों के निकट-संबंध से सहकारी क्रियाओं और संस्कृति की उन्नति हुई। नागरिक आदर्श से यह विचार पैदा होता है कि नागरिकों के सामान्य मनोरंजन के साधन

मिलने चाहिए। सड़कें और पुल जो निजी तौर पर अधिकार में थे और जिन पर कर लगाते थे, वे सर्वसाधारण की सम्पत्ति होगये और बिना किसी तरह के कर के सबके लिए खुल गये। सफाई, रोशनी, पानी, शफ़ाखाने, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सहायता, वाग-वगीचे, मनोरंजन के मैदान, स्कूल और कॉलिज, लाइब्रेरी और अजायव-घर, वे सब म्यूनिसिपैलिटी के हाथ में आ गये। आज म्यूनिसिपैलिटी का कर्त्तव्य यही नहीं है कि ये चीजें बिना पैसे नागरिकों को उपलब्ध करा दे, वल्कि यह भी है कि कला-भवन, थियेटर, संगीत और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, हरेक नागरिक के लिए उपयुक्त घर की व्यवस्था करे। लेकिन स्पष्ट रूप से आज सबसे ज्यादा जरूरत तो खाने की है। और उस आदमी को जिसके पास खाना नहीं है, कला और संस्कृति देना तो उसकी हँसी उड़ाना है। इसलिए मौजूदा म्यूनिसिपैलिटी का आज कर्त्तव्य है कि वह देखे कि उसकी हद में कोई भूखा न मरे। जो आदमी वेकार हैं, उन्हें काम मिले और अगर काम की व्यवस्था न हो सके तो उन्हें खाना दिया जाय। यही आज नागरिकता का आदर्श है, हालांकि कोई ही म्यूनिसिपैलिटी उसको पूरा करती है। हिन्दुस्तान में अब भी उस आदर्श की झलक पाने से भी हम वहुत दूर हैं।

इस नागरिकता के आदर्श ने धीरे-धीरे राज्य पर भी अपना असर डाला और उसके साथ राज्य की चारों दिशाओं में प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। 'पुलिस-राज्य' बदल कर मौजूदा राज्य के रूप में एक जटिल पैतृक सरकार जिसकी प्रवृत्तियों के वहुत से विभाग और दायरे हैं और हरेक नागरिक के साथ उसके वहुत से सम्बन्ध हैं—परिणित कर दिया गया। उसे वाहरी हमले और भीतरी गडबड़ से ही सुरक्षित नहीं रखा गया, बल्कि उसने उसे शिक्षा दी, उद्योगों का ज्ञान कराया, उसके रहन-सहन के दर्जे को उठाने की कोशिश की, सांस्कृतिक विकास के लिए उसे अवसर दिये, बीमे की योजना उसे दी जिससे वह अनहोनी जरूरियात का मुकाबिला कर सके। और सब तरह के साधन उसे दिये और उसे काम और खाना देने का जिम्मेदार उसने अपने को बनाया। नागरिकता का आदर्श फैलता गया। आज

वह मौजूदा सामाजिक विधान में जितना फैल सकता था उतना फैल गया है और जवतक वह विधान, जैसा कि वह है, रहना है, तवतक उसकी आगे तरक्की नहीं हो सकती।

सच्ची नागरिकता का आदर्श तो समाजवादी यानी कम्यूनिस्ट आदर्श है। उसका मतलब है कि आदमी की कोशिश से कुदरत जो सम्पत्ति पैदा करती है, उसका सामान्य उपभोग हो। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब मौजूदा सामाजिक विधान में तब्दीली हो और समाजवाद उसकी जगह चलाया जाय।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

: नया चुनाव :

हम प्रायः यह सुना करते हैं कि भारत में प्रजातन्त्र की महानतम परीक्षा होने जा रही है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि चीन को छोड़कर इस समय संसार में भारत की जनसंख्या सबसे अधिक है और हमने वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार करने का साहस भी किया है। भारत के १७ करोड़ से अधिक मतदाता केन्द्र और राज्यों के लिए अपनी पसन्द की सरकारों का निर्वाचन करते रहेंगे। इसलिए निर्वाचन सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करना प्रयोजनीय है।

इस समय भारतीय संघ में कुल २८ राज्य हैं जो भाग 'ए', भाग 'बी', और भाग 'सी', इन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। भाग 'ए' में गवर्नरों के पुराने प्रान्त—आसाम, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर-प्रदेश और पश्चमी-बंगाल हैं। ये कुल ९ राज्य हैं। भाग 'बी' में अधिकांशतः पुरानी भारतीय रियासतें —हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, मध्यभारत, मैसूर, पटियाला-रियासत-संघ, राजस्थान, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर-कोचीन हैं। इन राज्यों की कुल संख्या ८ है। भाग 'सी' में केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र—अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल-प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा, विन्ध्य-प्रदेश, और अंडमन-निकोबार द्वीप समूह हैं। इनकी कुल संख्या ११ है।

भारतीय संसद् में दो सदन हैं—प्रथम सदन और द्वितीय सदन। प्रथम सदन का नाम 'लोक-सभा' और द्वितीय का 'राज्य-परिषद्' है।

लोक-सभा में ४९६ सदस्य होंगे जिनका वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन किया जायगा। किन्तु लोक-सभा में जम्मू और काश्मीर और अंडमन-निकोबार द्वीप-समूह के सदस्यों को राष्ट्रपति मनोनीत करेंगे। राज्य परिषद् में २०४ सदस्य होंगे जिनमें से अधिकांश भाग 'ए', 'बी', 'सी', राज्यों से निर्वाचित होंगे। इसके अतिरिक्त राज्य परिषद् के अन्य १२ सदस्य, राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायँगे जो साहित्य, कला, विज्ञान आदि के क्षेत्र के ख्यातिप्राप्त व्यक्ति होंगे।

केवल सात राज्यों में द्विसदनीय विधान-मंडल होंगे, द्वितीय सदन 'विधान-परिषद्' कहलायगा और प्रथम 'विधान-सभा'। ये सात राज्य विहार, वम्वई, मद्रास, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी-बंगाल और मैसूर हैं। इनमें से विहार, बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश की विधान परिषद् में वहत्तर-वहत्तर सदस्य होंगे। पश्चिमी-बंगाल की विधान-परिषद् में इक्यावन और पंजाब तथा मैसूर विधान-परिषद् में चालीस-चालीस सदस्य होंगे। इनमें से कुछ सदस्य निर्वाचित होंगे और कुछ मनोनीत।

भाग 'सी' के ११ राज्यों में कुर्ग और जम्मू-काश्मीर राज्य को छोड़ कर अभी कोई स्थानीय विधान-मंडल नहीं बनेगा। कुर्ग की वर्तमान विधान-परिषद् अपना कार्य करती रहेगी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सात राज्यों में दो-दो सदन होंगे और शेष ६ में केवल एक-एक अर्थात् केवल विधान-सभा। विधान-सभा के सभी सदस्य प्रत्यक्ष वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होंगे।

लोक-सभा में कितने व्यक्तियों के पीछे एक सदस्य हो, इस संबंध में समस्त भारत में यथासंभव एक जैसा अनुपात रखा गया है। प्रत्येक ७,५०,००० व्यक्तियों पीछे एक से कम सदस्य और प्रत्येक ५,००,००० व्यक्तियों के पीछे एक से अधिक सदस्य नहीं होगा। किन्तु यह नियम भाग 'सी' के राज्यों पर लागू नहीं होता।

संसद् के माननीय अध्यक्ष ने निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन के निमित्त प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक परामर्शदाता-समिति नियुक्त की है। परि-

सीमन के सम्बन्ध में निर्वाचन आयोग इन समितियों से परामर्श कर के राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी प्रस्थापनाएं उपस्थित करेगा और फिर राष्ट्रपति विभिन्न निर्वाचित क्षेत्रों के परिसीमन के लिए आदेश जारी करेंगे। आदेशों में यदि संसद् कुछ आवश्यक परिवर्तन करना चाहे तो वे कर दिये जायेंगे और तब निर्वाचित क्षेत्रों के परिसीमन का कार्य अन्तिम रूप धारण कर लेगा।

यह स्मरण रखने की बात है कि हमारे आगामी चुनाव में जो मतदाता भाग लेंगे उनमें बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियां, वृद्ध, अशक्त अथवा रोगी भी होंगे। यदि मतदान के लिए इन्हें दूर-दूर के मतदान-केन्द्रों पर जाना पड़ा तो निश्चय ही उन्हें बहुत कठिनाई, असुविधा तथा कष्ट होगा। पहले तो ऐसा भी होता था कि चुनाव में खड़े होनेवाले उम्मीदवार अपने खर्च पर मतदाताओं के आने-जाने की व्यवस्था करते थे और इस प्रकार उनका बहुत रुपया व्यय होता था। स्पष्ट ही इस प्रकार, धनी उम्मीदवार अन्य उम्मीदवारों की अपेक्षा लाभप्रद स्थिति में रहते थे। किन्तु आशा है कि नये चुनाव में उम्मीदवारों द्वारा मतदाताओं को मतदान-केन्द्रों तक स्थानान्तरित किये जाने की व्यवस्था पर विधि द्वारा रोक लगा दी जायगी। इसके अतिरिक्त नये चुनाव इतने व्यापक स्तर पर होगा कि उम्मीदवारों को यदि यह व्यवस्था करने की छूट दी गई तो बहुत धन व्यर्थ ही में नष्ट होगा। इसलिए स्थानान्तरण की आवश्यकता को ही समाप्त करने के लिए ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि मतदान-केन्द्र मतदाताओं के समीप ही हों।

पिछले अनुभव से ज्ञात हुआ है कि चुनाव अधिकारियों का एक दल एक दिन में १,००० मतदाताओं से मतदान का कार्य सम्पन्न करा सकता है। इसलिए प्रति १,००० मतदाताओं के लिए एक मतदान केन्द्र बनाने का विचार किया जा रहा है। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की जा रही है कि एक मतदान-केन्द्र अधिक से अधिक ४ वर्ग मील की परिधि में रहने

वाले मतदाताओं के लिए हो और उन्हें मतदान के लिए १ मील से अधिक दूरी से न आना पड़े। यह सब व्यवस्था करने का उद्देश्य यह है कि मतदाताओं को देश की सरकार को चुनाव के महत्वपूर्ण कार्य में कोई कठिनाई न हो।

जिन क्षेत्रों में मत देने वाली स्त्रियाँ परदा करती हैं वहाँ पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए अलग-अलग मतदान-केन्द्र होंगे। जहाँ परदे की प्रथा नहीं है, वहाँ स्त्री तथा पुरुष मतदाताओं के लिए एक ही केन्द्र होगा। यथासम्भव यह भी प्रयत्न किया जायगा कि स्त्री मतदाताओं को मतदान के विषय में समझाने के लिए स्त्री-कर्मचारी उपस्थित रहें।

राज्यीय विधान-सभा तथा लोक-सभा के सदस्यों का चुनाव एक साथ ही होगा। इससे जहाँ एक ओर तो समय, खर्च तथा श्रम की बचत होगी, वहाँ दूसरी ओर यह मतदाताओं के लिए भी सुविधा-जनक होगा। प्रत्येक मतदाता को पहले विधान-सभा के चुनाव के लिए मतदान-पत्र दिया जायगा। जब वह अपना मत दे देगा तो फिर उसे लोक-सभा के चुनाव का मतदान-पत्र दिया जायगा, जो भरकर दूसरी जगह देना होगा। मतदान का कार्य अत्यन्त गोपनीय होगा और मतदान-केन्द्र का प्रधान अधिकारी भी मतदान-पत्र का वितरण नहीं जान सकेगा। उचित तथा स्वतन्त्र चुनाव के लिए यह गोपनीयता अत्यन्त आवश्यक है।

चुनाव कार्य की एक और बहुत बड़ी समस्या है। मतदाताओं की बहुत बड़ी संख्या अशिक्षित है और उनमें से बहुत से तो ऐसे हैं जो कलम तक पकड़ना नहीं जानते। ऐसे मतदाता यदि अपने मतदान-पत्र भरने में अथवा उन पर निशान बनाने में मतदान-केन्द्र के अधिकारियों की सहायता लेंगे तो चुनाव की गोपनीयता भंग होगी और बाद में हारने वाले उम्मीदवारों द्वारा यह भी आरोप लगाये जाने की आशंका है कि सरकारी कर्मचारियों ने अशिक्षित मतदाताओं को बहका कर मतदान-पत्रों को गलत भरवाया है। इस कठिनाई से बचने के लिए यह व्यवस्था की गई है कि

मतदान-पत्रों के वक्सों पर उम्मीदवारों के ऐसे चिन्ह स्पष्ट रूप से बना दिये जायँगे जिन्हें देख कर मतदाता उम्मीदवारों के विषय में जान सकें। मतदाता उन वक्सों में अपने मतदान-पत्र, बिना कुछ लिखे अथवा चिह्न वनाये ही डाल देंगे।

सुरक्षा, सुविधा, टिकाऊपन तथा मितव्ययता को ध्यान में रखते हुए मतदान के लिए लोहे के वक्स रखने का निश्चय किया गया है। मतदान-पत्र ऐसे छपवाये जायेंगे कि उनमें जालसाज़ी करना सम्भव न हो सके।

सम्पूर्ण भारत में १७ करोड़ से अधिक मतदाता हैं जिनके लिए लगभग ५२ करोड़ मतदान-पत्र छपाने होंगे, लगभग १,७५,००० मतदान-केन्द्रों की व्यवस्था करनी तथा लगभग १९ लाख मतदान के बक्से वनवाने होंगे। इन आँकड़ों से स्वयं स्पष्ट है कि सफलतापूर्वक चुनाव-कार्य करने के लिए कितनी व्यवस्था तथा श्रम की आवश्यकता है। प्रत्येक मतदान-केन्द्र के लिए एक प्रधान अधिकारी, कम से कम दो या तीन क्लर्क, दो या अधिक चपरासी तथा सुरक्षा के लिए पुलिस आदि की आवश्यकता होगी। इतनी सब आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह सम्भव नहीं है कि किसी भी राज्य में मतदान-कार्य एक ही दिन में समाप्त हो सके। एक केन्द्र में कार्य सम्पन्न हो जाने के वाद चुनाव-दल दूसरे केन्द्र पर चला जायगा। जिस क्षेत्र में जिस दिन चुनाव होगा उसमें उस दिन स्थानीय छुट्टी मानी जायगी।

चुनाव के विषय में संसद् में इस समय जो विधेयक विचाराधीन है उसके अनुसार चुनाव के क्षेत्र में चुनाव के दिन कोई भी राजनीतिक दल, सभा तथा प्रदर्शन आदि नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त विधेयक में ऐसी सब व्यवस्था करने के सुझाव भी हैं, जिससे उचित तथा स्वतन्त्र चुनाव के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़ सके।

चुनाव के इस महान कार्य की वास्तविक सफलता प्रत्येक व्यक्ति के आचरण पर निर्भर है। नये चुनावों के लिए वर्तमान सरकारों, अधिकारियों, राजनीतिक दलों, उम्मीदवारों तथा उनके साथियों, पत्रों तथा सब से अन्त में प्रत्येक मतदाता पर विशेष दायित्व है। सब के अधिक से अधिक सहयोग तथा प्रयत्न पर ही इतने महान् कार्य की सफलता निर्भर है।

—श्री सुकुमार सेन

: पर-राष्ट्र-नीति :

विश्व आज दो दलों में बँट गया है। मतभेद स्वार्थ का है, सिद्धान्त का नहीं। स्वार्थी लोगों ने सिद्धान्त की भ्रमपूर्ण दीवारें खड़ी करके मत-भेद उत्पन्न किया था, किन्तु अब सरल हृदय के लोग भी इस गोरखधंधे में पड़कर व्यापक मतभेद के शिकार बन बड़े-से-बड़े युद्ध के लिये तैयार हैं। शान्त तथा गम्भीर व्यक्तियों को भी हम आज जोश के साथ यह कहते सुनते हैं कि मौका पड़ने पर हम अपने सिद्धान्त के लिये अपने प्राण भी निछावर कर देंगे। क्या आप जानते हैं कि कौन से सिद्धान्त हैं, जिनके लिये बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक और धर्म-गुरु अपने प्राणों को भी तुच्छ समझते हैं? प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद और साम्यवाद ही वे सिद्धान्त हैं और इन्हीं को आधार बनाकर दुनिया आज दो भागों में बंटी हुई है। कई अन्य सिद्धान्त और हैं, किन्तु उनका स्थान विशेष महत्व का नहीं है, अतः हम यहाँ केवल यही देखेंगे कि ऊपर के सिद्धान्तों में भारत किसे अप-नाये और यदि किसी गुट्ट में सम्मिलित हो तो किसमें हो। हमें यह भी देखना है कि बिलकुल अलग रहकर वह दुनिया का कुछ उपकार कर सकता है या नहीं और उसका अलग रहना सम्भव है या नहीं?

प्रजातन्त्रवाद वस्तुतः साम्राज्यवाद का ही फल है। इसमें वे सभी बुराइयाँ हैं, जो सामन्तवाद तथा साम्राज्यवाद में थीं, हाँ उनकी प्रचण्डता में कुछ लाघवता अवश्य आ गयी। आज हम अमेरिका आदि देशों में जिस प्रजातन्त्रवाद को देखते हैं, उसमें राज्य सत्ता वस्तुतः प्रजा के हाथ में न आकर कुछ ऐसे लोगों के हाथ में आ जाती है, जो अगाध सम्पत्ति के

अधिकारी हैं। प्रजातन्त्रवाद के जो विधान सामने हैं, उनसे यही प्रकट है कि निर्वाचन आदि में वैधानिक जाल द्वारा पूँजीपति जनसाधारण को अपने जाल में फँसा लेते हैं और स्वयं को जनता द्वारा जनता का प्रतिनिधि घोषित कराकर जनता का ही शोषण तथा निपीड़न करते हैं। जो अपने ही देशवासियों का शोषण करते हैं, वे भला अवसर मिलने पर अन्य देश-वालों का शोषण क्यों न करेंगे? यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि जब गोरे गोरों का शोषण करते हैं, तो कालों के प्रति उनका व्यवहार कैसा हो सकता है, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है। ब्रिटेन में श्रमिक हड़ताल क्यों करते हैं? इसीलिये कि उनका शोषण होता है, उनके खून की कमाई चन्द लोग पानी की तरह दोनों हाथ लुटाते हैं और जो अपने खून से अर्थ (सोने-चाँदी) की ढेरियाँ लगाते हैं, वे साधारण रोटी के दो टुकड़ों के लिये तरस जाते हैं। जब स्वधर्मावलम्बी गोरी चमड़ी वाले मजदूरों के प्रति गोरे पूँजीपति ऐसा अन्याय करते हैं, तो ईरान के तपे चमड़ेवाले मजदूरों के प्रति अथवा स्वेज के इलाके में, मलाया में और अन्य ब्रिटिश तथा अमे-रिकी उपनिवेशों में जो अन्याय तथा अत्याचार गरीबों पर हो रहा है उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है? आश्चर्य की बात यह है कि यह घृणित अमानवीय व्यवहार प्रजातन्त्रवाद की छत्र-छाया में हो रहा है। इस प्रजातन्त्रवाद की प्रशंसा में अमेरिका और उसके हिमायती जो ढोल पीट रहे हैं, उस समय मिथ्या प्रतीत होते हैं, जब हम देखते हैं कि अमेरिका के काले हब्सियों के प्रति कितना पतित और हीन व्यवहार किया जाता है। साधारण से अपराध पर उन्हें जीवित जलाने की प्रथा-सी चल गयी है।

व्यवहारिक रूप में समाजवाद का स्वरूप इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच वह एक कड़ी बनना चाहता है—एक ओर वह पूँजीपतियों को भी सन्तुष्ट रखना चाहता है और दूसरी ओर वह शोषित मजदूरों तथा किसानों को भी कुछ राहत देकर सन्तुष्ट करना चाहता है। ब्रिटेन की समाजवादी सरकार की स्थिति

हम देख चुके हैं—एक ओर वह चीन की कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकार करती रही तो दूसरी ओर अमेरिकी प्रभाव में आकर चीनी कम्युनिस्ट सरकार के प्रति सदा प्रतिकूल रहती रही है। यही नहीं, कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के बाद भी वह मजदूरों की स्थिति सुधारने में असमर्थ रही, क्योंकि जिस भांति शान्ति अविभाज्य है, उसी प्रकार शोषण भी अविभाज्य है अर्थात् यह सम्भव नहीं, कि एक स्थान पर शोषण हो और एक स्थान पर न हो। शोषण का अन्त तो तभी सम्भव है, जब हम उसका सर्वत्र अन्त इस खूबी से करें कि कहीं उसका चिह्न न रह जाय। किन्तु समाजवाद की छाया में यह सम्भव नहीं, क्योंकि वह चमगादड़ की भांति कभी पक्षियों के दल में और कभी पशुओं के दल में दिखायी दे सकता है। इसी से साम्राज्यवाद में तानाशाही का भी खतरा है—राष्ट्रीय समाजवाद के बुरके में ही छिपकर हिटलर जैसे तानाशाह आगे बढ़े थे। इस बुरके में एक ऐसा आकर्षण है कि पूंजीपति तथा मजदूर समान रूप से इसके प्रति झुकते हैं और अन्त में दोनों देखते हैं कि उनको धोखा दिया गया है और एक तानाशाह उनका भाग्य विधायक बन बैठा है। राजनीतिज्ञ समाजवाद की कोई व्याख्या भी क्यों न करें, किन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में समाजवाद हमें हिटलर, एटली और टीटो जैसे व्यक्ति और उनसे सम्बन्धित शासन-प्रणालियाँ ही देता है। क्या ऐसे साम्राज्यवाद को हम अपनायें, जिसका अपने ही ऊपर कोई वश न हो और जो व्यक्ति विशेष के प्रभाव में पड़कर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हो। भारत को आज एक सुदृढ़ आधार चाहिये, अतः समाजवाद के नरम आधार पर वह अपनी स्वप्नों की अट्टालिका नहीं बना सकता।

और, साम्यवाद भारत के लिये ही नहीं किन्तु समस्त संसार के लिये एक पहेलिका है। कोई उसे अच्छा और कोई बुरा बताता है। रूस में जाकर साम्यवाद की झांकी देख आनेवाले लोग भी दो तरह का राग अलापते हैं। एक दल यदि कहता है कि साम्यवादी रूस आज स्वर्ग बन रहा है, तो दूसरा दल कहता है कि साम्यवादी रूस आज नरक बन रहा है।

साम्यवादी रूस दो नहीं एक ही है, फिर उसके सम्बन्ध में दो प्रकार के मत क्यों हैं? क्या मत प्रकट करने वालों में किसी दल के लोग जान-बूझ कर असत्य कह रहे हैं? वस्तुतः दोनों दलों में ही सच्चे लोग हैं और वे अपनी समझ में एक भी असत्य बात नहीं कह रहे, किन्तु उनका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होने के कारण वे साम्यवादी रूस को भिन्न-भिन्न रूप में पाते हैं और वे जैसा उसे पाते हैं, वैसी हो उसकी वर्णना करत हैं। साम्यवादी रूस की सच्ची झांकी देखने के लिये एक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। यदि हम इस प्रकार का दृष्टिकोण अपना कर रूस की समीक्षा करेंगे तो देखेंगे कि रूस में न सच्चा साम्यवाद है, न सच्ची स्वतन्त्रता। यदि सच्चा साम्यवाद वहां होता तो आज स्टालिन को वे अधिकार प्राप्त न हुए होते जिनके वल पर वह गत २० वर्षों से एकछत्र राज्य करता आ रहा है। यदि ऐसा नहीं है, तो स्टालिन के स्थान में कोई दूसरा नेता क्यों नहीं चुना जाता? फिर स्टालिन के विरोधियों को क्यों रूस छोड़कर भागना पड़ता है और भागने पर भी वे बच क्यों नहीं पाते? आज दिल्ली में नेहरूजी के विरोध में सभाएं होती हैं—क्या मास्को में स्टालिन के विरोध में इसी तरह सभाएं होती हैं? यदि नहीं, तो क्यों? क्या स्टालिन वह तानाशाह है, जो अपने विरोधियों को इस तरह कुचेल देता है कि वह सर तो उठा ही नहीं सकता, साथ ही किसी दूसरे को सर उठाने का साहस भी नहीं होता। रूस में ऐसी कोई पार्टी क्यों नहीं है, जो कम्युनिस्ट पार्टी के मुकाबले चुनाव आदि में प्रतिद्वन्द्विता करने को खड़ी हो? कम्युनिस्ट भाई सम्भवतः यह कहें कि सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of the proletariat) में अन्य दल का स्थान कहाँ। तव तो जिस तानाशाही के वे निन्दक थे, उसी को वे स्वीकार करते दिखायी पड़ते हैं। हमारी दृष्टि में कैसी भी तानाशाही क्यों न हो वह एक ऐसा वर्ग पैदा कर देती है, जिसका स्वार्थ शोषण में ही निहित रहता है। रूस में भी आज एक ऐसा ही वर्ग पैदा हो गया है, जो दूसरों के उत्पादन पर गुलछर्रे उड़ाता है। रूस की लाल सेना और कम्युनिस्ट पार्टी के बुद्धिजीवी क्या इसी वर्ग के नहीं हैं? कल के

शोषित आज के शोषक बन गये हैं, यही परिवर्तन रूस में हुआ है। रूस के औद्योगिक विकास के लिये हम साम्यवाद को वाह-वाही नहीं दे सकते, क्योंकि प्रजातन्त्रवाद ने अमेरिका में इससे कहीं अधिक औद्योगिक विकास कर दिखाया है। अन्त में हमें कहना पड़ता है कि साम्यवाद भी हमारी कसौटी में खरा नहीं उतरा। भारत के लिये साम्यवाद का रास्ता भी श्रेयस्कर नहीं है।

फिर, श्रेय क्या है? वह कौन-सा पथ है, जिस पर आगे बढ़कर हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं? सभी वाद हमें कुछ-न-कुछ अच्छी बातें बताते हैं, अतएव यदि हम उन सभी अच्छी बातों को अपना लें तो निश्चय ही एक ऐसा पथ हमारे सामने आ जायगा जो न केवल हमें हमारे लक्ष्य तक ले जायगा, किन्तु उससे भी आगे पहुँचा देगा। प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद को न अपनाते हुए, प्रजातन्त्रवाद की व्यक्ति-स्वतन्त्रता, समाजवाद की लोच और साम्यवाद की समष्टि हितपूर्ण भावना को अपना कर हम एक अभिनव व्यवस्था खड़ी कर सकते हैं, जिसमें व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी समष्टि के हित में लगा रह सकता है और अवसर के अनुसार अपना कर्त्तव्य बदलता रह सकता है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि समष्टि के साथ साथ जबतक व्यक्ति के स्वार्थों को सुरक्षित न किया जायगा, तबतक समष्टि के स्वार्थ सुरक्षित नहीं हो सकते क्योंकि व्यक्ति को आधार बनाकर ही समष्टि जीवित रह सकती है। व्यक्ति से अलग समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः समाज के हित में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र रखना आवश्यक है। समष्टि के साथ व्यक्ति का वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा आत्मा का शरीर के साथ। निष्कर्ष यह रहा कि भारत सभी वादों अथवा पश्चिमी तथा पूर्वी दलों से अलग रहकर अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करे और आगे बढ़े। वह यदि ऐसा साहस करेगा तो एक नया मार्ग दुनिया के सामने आ जायगा और उसे अपना कर वह सुख-समृद्धि की वृद्धि कर सकेगा। भारत के लिये प्रजातन्त्रवादी और साम्यवादी गुट्टों से अलग रहना भी सम्भव है, क्योंकि दोनों गुट्टों में

कोई भी उसे अपना शत्रु नहीं समझता और शक्ति सन्तुलन में भारत को वे अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं तथा यह समझते हैं कि भारतीय जनशक्ति को मित्र के रूप में पाये विना वे किसी भी संघर्ष में सफल नहीं हो सकते। अतः भारत के लिये उचित यही है कि विश्वविजय की योजनाओं को इसी भाँति खटाई में डाले रहे और तटस्थ रहकर एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दे, जिसमें व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र रहकर समाज को सभी ओर से परिपुष्ट कर सके।

—पं० श्रीराम शर्मा

---

[७]

: उत्थान की नई दिशा :

(१) क्रान्ति की सही राह
(२) भूदान-यज्ञ का महान् लक्ष्य
(३) भूदान-दर्शन
(४) युग-धर्म की पुकार



क्रान्ति से अभिप्राय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये की क्रान्ति

थी, कुछ लोग कहते थे कि हिंसा से हम शीघ्र स्वतन्त्रता
प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु लेखक कहते हैं कि हिंसा करने
पर कार्य सफल हो जाय किन्तु जो दुःख है वह नहीं रहेगा।
यथा रूस की क्रान्ति। अहिंसात्मक आन्दोलन हमारी
संस्कृति के अनुकूल महात्मा गांधी के अनुकूल है अतः
इसे ही अपनाना चाहिये।

कानून के द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकती।

[नोट :- ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेख स्वतन्त्रता
प्राप्ति से पहले लिखा गया है क्योंकि यह समस्यायें
उसी समय की हैं]

: क्रांति की सही राह :

यहां सारे नव-जवान बैठे हैं। मजदूर भी होंगे, शहर के दूसरे नागरिक भी होंगे। आप जानते हैं कि आज के जमाने में चारों तरफ भिन्न-भिन्न देशों में क्रान्तियां हो रही हैं और उनके पीछे जो भावना है, कम-से-कम जनता के बीच वही भावना है, जो एक अहिंसक क्रांति के पीछे है याने समाज को एक नई रचना करना जिसमें न्याय हो, समता हो, शोषण न हो। पर हम देख रहे हैं उन देशों में वे क्रान्तियां दूसरे तरीकों से हो रही हैं।

हमारे कुछ नवयुवक भाई और कुछ मजदूर-भाई पूछते हैं ये जो क्रान्तियां हो रही हैं एक ही उद्देश्य को लेकर हो रही हैं और उन्हें अगर हम हिंसा से जल्द हासिल कर सकते हैं तो क्यों न उस रास्ते को अपनावें? अहिंसा में ऐसी क्या खूबी है कि उसी रास्ते को हम अपनावें। कई लोग तो यह भी कहते हैं कि अहिंसा अच्छी, पर उससे क्रान्ति होनेवाली नहीं है। हमें तो दिन-रात नवयुवकों से वास्ता आता है। हम देखते हैं कि उनके दिमागों में यह बात घर कर चुकी है कि जबतक मारपीट नहीं होती, खून-खराबी नहीं होती तबतक क्रान्ति नहीं हो सकती। मैं चाहता हूं कि दो-चार बातें इस प्रश्न पर निवेदन करूं।

एक जमाना था मेरे अपने जीवन में, जब मैं भी मानता था कि अंग्रेजों के राज का खातमा अहिंसा से नहीं होगा, कोई ऐसा समय आयेगा जब एक हिंसात्मक लड़ाई लड़नी होगी। पर इतिहास साक्षी है कि देश में

राजनैतिक विप्लव हुआ और अंग्रेजी राज्य का खातमा हुआ। बहस करने वाले यह भी कहते हैं कि अंग्रेज केवल महात्मा गांधी की अहिंसा से नहीं गये, पर जो इधर-उधर बम आदि फैंके गये और जो नेताजी ने आजाद-हिंद-फौज का निर्माण किया उसी कारण अंग्रेजी राज्य गया। पर मेरा खयाल है कि यह तो ताजा इतिहास है। स्वराज्य के इतिहास को समझें तो मानेंगे कि ठीक है। बंगाल ने बहुत कुरबानी की, भगतसिंह की कुरबानी से एक बिजली-सी देश में दौड़ गई, नेताजी और आजाद-हिन्द-फौज ने भी काम किया, पर फिर भी जनता में जो शक्ति पैदा हुई कि अंग्रेजी राज्य को वह न माने, अंग्रेजी साम्राज्य का यह मुकाबला कर सके, अगर वह नहीं हुई होती तो इधर-उधर बम फैंकने से, आजाद-हिन्द-फौज का निर्माण करने से यह काम सम्भव नहीं हुआ होता।

हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि बहुत नवयुवक ऐसे हैं कि जो अपने जीवन में ऐसे अनुभव होने पर भी इस चीज को नहीं समझते हैं, इस चीज से दूर जा रहे हैं। वे कहते हैं जापान का बर्मा पर हमला हुआ तो गांधीजी को मौका मिला। ठीक है, इतिहास की मदद क्रान्ति को किसी-न-किसी रूप में मिलती ही है। लेनिन को भी इतिहास की मदद बहुत मिली। उसके आने के पहले ही रूस में क्रान्ति हो चुकी थी। वह तो जर्मनी में ही पड़ा था। जर्मनी के मुकाबले में जारशाही की धज्जियां उड़ गई थीं। गरीबी और भूख से जनता परेशान थी। इतिहास की यह मदद न मिली होती तो १९१७ की यह क्रान्ति रूस में कदापि न हुई होती। माउ-त्से-तुंग की जो जीत हुई वह कदापि नहीं होती और आज हम देखते हैं कि माउ-त्से-तुंग और चांग की लड़ाई चीन में जारी रहती। दुनिया में जितनी भी क्रान्तियां हुई आजतक हमारे देश में उसके पुजारी पड़े हैं। पर वे जानते नहीं कि जो क्रान्तियां हो रही हैं उनके पीछे भी एक इतिहास होता है, बिना इतिहास के क्रान्ति नहीं हो सकती।

हम ऐसा समझते हैं कि क्रान्ति के दो रास्ते हैं जिनमें से मन के मुताबिक एक रास्ता चुन लेना चाहिए। किसी भी रास्ते से जाओ, पर पहं-

चेंगे तो एक ही जगह, ऐसा मानते हैं और वहस करते हैं कि यह रास्ता क्यों नहीं अपनाया जाय। पर इतिहास का जो अनुभव आजतक हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि जहां-जहां हिंसा का आश्रय समाज बदलने के लिए लिया गया वहां हमने देखा समाज बदला तो सही, पर जो उद्देश्य था वह हासिल नहीं हुआ। हिंसा करने वालों को सफलता मिली, उनके हाथ में सत्ता आई और सत्ता उन्हीं के हाथ में रह गई। रूस की क्रान्ति हुई, चीन की क्रान्ति हुई, जारशाही खतम हुई, सामन्तशाही खतम हुई। अगर आज भी कोई यह मानता हो कि रूस में सत्ता जनता के हाथ में है तो यह एक बड़ा भयंकर भ्रम है, जो जल्द से जल्द दूर होना चाहिये। रूस में ३६ वर्ष हुए क्रांति हुई पर हम देखते हैं कि उन्हीं मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सत्ता है, जिनके हाथ में पहले १९१७ में गई। किसी भी क्षेत्र में देखिए, आज भी सत्ता उन्हींके हाथ में है जिनके हाथ में हिंसा के साधन मौजूद हैं।

मैं चाहता हूं कि हमारे आपसी भेदभाव दूर हों। आप भी चाहते हैं, सब चाहते हैं कि समाज में आर्थिक समता आ जाये। समता की चाह सर्वत्र है। यह विषमता मिटा दें और नया समाज बना दें यह सभी चाहते हैं पर हिंसा के जरिये नया समाज नहीं बन सकता। कम्युनिस्ट लोग मजदूर-यूनियन बनाकर हिंसा से क्रान्ति करना चाहते हैं, पर समझना चाहिये कि हिंसा से क्रान्ति हो ही नहीं सकती। कम्युनिस्ट जिसे क्रान्ति कहते हैं, उस क्रान्ति के परिणामस्वरूप सत्ता उन्हीं के हाथ में रह जायगी जिनके हाथ में आज है।

इसलिए आपको समझना चाहिये कि हमारे सामने दो रास्ते नहीं है। एक ही रास्ता हमारे सामने है, जिसे गांधीजी ने हमारे सामने रखा और आज विनोबाजी आपके सामने रख रहे हैं।

कानून से जमीन का बंटवारा भले ही हो जाय पर लोगों के मन में जो मोह है कि हम जमीन के मालिक रहें, बटाईदारों से जमीन छीन लें और अपना कब्जा कर लें। यह तो एक प्रकार का लोभ ही है। कानून

से जमीन का बंटवारा हो जाये पर लोभ तो नहीं मिट सकता। विहार में इस भूदान-यज्ञ के चलते हुए भी वेदखलियां हो रही हैं। कानून से तो ये नहीं रुक सकतीं। किसी-न-किसी रूप में इस लोभ का प्रभाव काम करता रहेगा। जीवन मूल्यों में फरक लाये वगैर, अपने जीवन में अपनी स्वेच्छा से फरक करने की वृत्ति पैदा किये बगैर जवरदस्ती से क्रांति नहीं हो सकती।

असली क्रांति तो यही होती है न कि अपने जीवन के मूल्यों में फरक हो। वह न तलवार से हो सकती है न कानून से। जवतक समाज की आत्मा और व्यक्ति की आत्मा कवूल न कर ले कि हमें समता स्थापित करनी है तवतक क्रांति हो ही नहीं सकती। आज चोरी का कानून है। चोर को चोरी करने पर सजा मिलती है लेकिन कल अगर चोरी का कानून रद्द हो जाय तो क्या आप सव चोर वन जायंगे। नहीं। आपकी और आपके समाज की आत्मा ने जवतक इसे कवूल नहीं किया है तवतक कानून हो या न हो आप चोरी नहीं करेंगे। हमारी दृष्टि ही बन जाये कि आवश्यकता के मुताविक ही हम हमारे पास चीजें रखेंगे। आवश्यकता से अधिक रखेंगे तो वह भी चोरी होगी। आपके सामने वावा बैठे हैं आप देख रहे हैं कि वे केवल एक छोटी-सी धोती पहने हैं पर हम धोती, कुरता वन्डी सभी पहनते हैं। यद्यपि उसकी आवश्यकता नहीं है तथापि वैसी एक दृष्टि वन गई है। हो सकता है ये आवश्यकतायें हम कम करें। हमें इस चोरी से बचना है। यह कानून से नहीं, हिंसा से नहीं; बल्कि इसी रास्ते से होगा।

इसलिए हम नवयुवक भाइयों से कहना चाहते हैं कि जरा गम्भीरता से विचार कीजिये। अगर आप इतना ही चाहते हैं कि आप देश के हुकुमती वनें तो आप तलवार से वह कर लीजिये। पर अगर आप चाहते हैं कि गांव-गांव में सत्ता हो, गांव-गांव का राज हो तो वह अहिंसा से ही हो सकता है। इसलिए हम कहते हैं कि आप अपना यह भ्रम निकाल दीजिये

कि आपके सामने दो रास्ते हैं। यह वहस अव विलकुल बन्द हो जानी चाहिए।

गोपालनजी, जो कम्युनिस्ट पार्टी के लीडर हैं, उनका एक वक्तव्य अखवारों में निकला है। उसमें उन्होंने कहा है : "हम यह नहीं मानते कि इससे मसला हल होगा। कानून वनाना पड़ेगा पर हम इसके विरोधी नहीं हैं।" देखिये कितना जवरदस्त हृदय परिवर्तन हुआ। तलवार से कानून तक वे जा पहुंचे हैं। हां, वे अभी यह नहीं समझ सक रहे हैं, कि कानून से जमीन का वंटवारा भले ही कर लें, पर वह समाज-रचना नहीं हो सकती जो विनोबाजी चाहते हैं।

क्रांति कानून से नहीं हो सकती, वह तो जन शक्ति को प्रकट करने से ही हो सकती है। अभी गोपालनजी को यह समझना है। जव वे यह समझ जायंगे तव वे भी विनोवाजी के चरणों में आकर वैठ जायंगे और वह दिन वहुत महान् होगा। हम इस काम में लग जायं, तो शीघ्र-से-शीघ्र ऐसी रचना कर सकते हैं और दुनिया को एक रास्ता वता सकते हैं।

राजनीति समाज का एक मुख्य अंग है और राजनीति पक्षरहित भी हो सकती है। पार्टियां आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्रांति के साधन बनती है। अतः यह मानना, कि भिन्न-भिन्न पार्टियां ही अपने लक्ष्य के अनुसार समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति को बनाती हैं, गलत है। क्रांति तो जनता करती है और पार्टियां उस-पर केवल कब्जा कर लेती हैं, जैसा कि रूस और फ्रांस में हुआ। रूस में क्रांति जनता ने की और उसपर स्टालिन ने कब्जा मात्र किया। इधर विनोबाजी तो जनता में ही एक क्रांति कर रहे हैं। पर मार्क्स और लेनिन का अन्तिम आदर्श यह था कि समाज में कोई वर्ग ही नहीं रहेगा और कोई पार्टी भी नहीं रहेगी। जनता स्वयं प्रबंध कर लेगी। वही गाँधीजी के सर्वोदय-समाज का भी आदर्श है। पर दोनों में मूलभूत फरक यह है कि एक उसके लिए वर्ग-संघर्ष मानता है, दूसरा नहीं मानता। एक का वह

अन्तिम लक्ष्य है, दूसरे को शुरूआत वहीं से करनी है। भूदान-यज्ञ के द्वारा यदि न्याय्य बंटवारा होकर भूस्वामियों का वर्ग मिट जाता है, और फिर संपत्ति का भी बंटवारा होकर वर्ग मिट जाते हैं, तो वर्ग-विहीन समाज की भी स्थापना होती है। लेकिन उसके लिए आज से ही आगे बढ़ना है, याने सार्वभौम विकेन्द्रीकरण की ओर जाना है।

हमारा तरीका जन-क्रांति का, अहिंसा का है; क्योंकि यह हमारी संस्कृति के अनुकूल है, सभ्यता के अनुकूल है और सन्तवाणी के भी अनुकूल है। इसपर महात्मा गांधी ने प्रयोग किये और हमने देखा कि स्वराज्य मिला। लोग कहते हैं कि स्वराज्य तो जगत की परिस्थिति के कारण मिला या बम से मिला। लेकिन सही यह है कि महात्माजी की पैदा की हुई जनशक्ति के कारण लोग उठे और स्वराज्य आया। बाद में चाहे आजाद-हिंद-फौज बनी हो, या जगत् की परिस्थिति बदली हो। स्वराज्य तो जन-शक्ति के बिना आ ही नहीं सकता था। कम्युनिस्ट तो यहां तक कहते हैं कि अभी स्वराज्य आया ही नहीं। परन्तु स्वतन्त्रता तो एक प्रत्यक्ष सत्य है। ब्रिटिश-कामनवेल्थ में भी हम अपनी इच्छा से हैं। हम चाहें तो संबंध-विच्छेद कर सकते हैं। यह मतभेद हो सकता है कि ब्रिटिश-कामनवेल्थ में रहना हानिकर है या लाभकर; परन्तु हम संबंध-विच्छेद करें या उसमें रहें, यह हमारी ही इच्छा पर निर्भर है। इतिहास की मदद और जागतिक परिस्थिति तो हर क्रांति में मदद किया करती है, जैसे कि रूस में, चीन में और जापान में मिली। स्टालिन ने भी परिस्थिति के अवसर का लाभ उठाया। लेकिन यदि अहिंसा की शक्ति नहीं पैदा होती तो स्वराज्य भी नहीं मिलता। हिंसा तो हमारे देश की संस्कृति के ही प्रतिकूल जाती है और हिंसा से गरीब के हाथ में सत्ता नहीं आती; वह तो कुछ मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में जाती है।

कई लोग उद्योग-धंधों के राष्ट्रीयकरण की बात करते हैं। परन्तु इससे जनता का शोषण बन्द नहीं होता। हिन्दुस्तान में रेलों का राष्ट्रीय-करण हो गया। परन्तु उससे विषमता खतम नहीं हुई। रेलवे-बोर्ड

बने हैं, पर इसका मेंबर एक भी मजदूर नहीं बना। सब अफसर ही सदस्य बने। इस तरह से अफसरशाही आती है। रूस की अवस्था आज अफसरशाही की है, गरीब की नहीं। वहां पर तो डिक्टेटरशिप स्थापित हो गई है। हम लोग मनुष्य हैं, पशु नहीं। इसलिए हम डिक्टेटरशिप नहीं चाहते। कुछ लोग यह मान भी लें कि वे हिंसा को छोड़ सकते हैं, तो वे कहते हैं कि उसकी जगह नित्य सत्याग्रह ही करो। सत्याग्रह रूस या चीन से तो नहीं आया। वह तो हमारे गुरु की देन है, आज विनोबा पग-पग भूमि नाप रहे हैं और मुट्ठी-मुट्ठी मिट्टी इकट्ठी कर रहे हैं। यह भी सत्याग्रह ही तो है। पहले हमें लोगों को समझाना होगा, गांव-गांव में घूमकर लोकमत तैयार करना होगा, लोगों का हृदय-परिवर्तन करना होगा, और इस हृदय-परिवर्त्तन से उनका मानस परिवर्त्तन होगा। यही पहला कदम है, पर दूसरे कदम की शक्ति भी इसमें पड़ी है। इसलिए गरीबों से दान लेकर हम एक सेना ही तैयार कर रहे हैं। आवश्यकता पड़ते ही दूसरा कदम भी आगे बढ़ेगा।

भूदान आन्दोलन की प्रगति में बाधा डालनेवाली एक खास दिक्कत यह है कि कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी अथवा अन्य दलों के कार्यकर्त्ताओं ने अभीतक अपनी खुद की ही भूमि दान में नहीं दी है, या दी है तो बहुत ही कम हिस्सा दिया है। इससे उन्होंने आन्दोलन को एक जबर्दस्त धक्का पहुंचाया है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अब अधिक विलंब किये बगैर अपना उचित हिस्सा भूदान में देदें, तभी अनुकूल वातावरण निर्माण हो सकेगा।

—श्री जयप्रकाश नारायण

: भूदान-यज्ञ का महान् लक्ष्य :

हिन्दुस्तान की ही नहीं, वरन् लगभग सारे एशिया की, सबसे गंभीर समस्या जमीन के बंटवारे की है। रूस और चीन ने यह समस्या भारी रक्तपात और दूसरे प्रकार की क्रूरतापूर्ण पद्धति अख्तियार करके हल की है। ब्रह्मदेश, इंडोनेशिया, इंडोचायना, थाई वगैरा देशों में ही ये पद्धतियां आजमाई जा रही हैं। हिन्दुस्तान में भी तेलंगाना और दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में उसका आरंभ हो चुका था। उत्तर भारत में काश्मीर ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के वाद कानून के बल पर इस समस्या को हल करना शुरू किया है और वहुत कुछ कामयावी हासिल की वताई जाती है। पेप्सू (पटियाला और पंजाव संघ) में जमीन-मालिकों से जवरदस्ती जमीन छीन लेने के प्रयत्न शुरू हुए हैं।

इन सवका कारण क्या है? किस कारण सभी देशों में इस प्रकार के आंदोलन का प्रारम्भ हो गया है। सभी देशों में लगभग एक ही से कारण हैं। इन सभी देशों में हजारों वर्षों से सरमायेदारी (फ्यूड्ल्) पद्धति चलती आई है। कोई सरदार सारे देश को या देश के किसी हिस्से को जीत लेता और उसका राजा वन बैठता। वादमें अपने मुख्य-मुख्य मददगारों में अमुक राज-कर देने की शर्त पर जमीन बांट देता। वे लोग जमीन के मालिक हो वैठते और उस भाग की किसान जनता जमीन की मालिक न रह कर पट्टेदार या आसामी वन जाती।

यह पुरानी पद्धति थी। उसमें अंग्रेज सरकार ने दूसरी दो रीतियां दाखिल कीं। वंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश आदि कुछ प्रान्तों में लगान

वसूल करने की झंझट से बचने के लिए उसने बड़ी-बड़ी स्थाई जमींदारियां कायम कीं। ये जमींदारियां सरकार का नियत लगान दे देती और अपने इलाकों के किसानों से यथासंभव मनमाना लगान वसूल लेतीं। सरकारी लगान से जितना अधिक वसूल हो जाता, वह सब उनका अपना हो जाता।

दूसरा प्रकार साहूकार जमीन-मालिकों का। साहूकारी तो अंग्रेज सरकार के पहले भी थी। जिसका किसी साहूकार के यहाँ खाता न हो, ऐसा शायद ही कोई किसान रहा होगा। परन्तु कानून या रूढ़ि या कुछ ऐसा बंधन रहा कि चाहे जितना कर्जा चढ़ गया हो, तो भी साहूकार उसकी बदौलत जमीन का मालिक नहीं बन सकता था। जमीन का प्रत्यक्ष कब्जा, उपयोग और मालकियत तो किसान की ही रहती थी। अंग्रेज सरकार ने कर्जे की वसूली में ऐसी सहूलियत कर दी कि जिससे कर्ज की वसूली में जमीन का मालिक बनने का अधिकार साहूकार को मिल गया। खुद जमीन जोत न सकने पर भी साहूकार सैकड़ों एकड़ के मालिक बनने लगे। इसमें भी जहां-जहां बनिया-साहूकार की जगह किसान-साहूकार होता वहां उसकी नीयत मूल किसान को निकाल कर जमीन अपने हाथ में जिन तरीकों से आ सके उन तरीकों को काम में लाने की होती थी। लोगों में यह कहावत है कि बनिया किसान को जिंदा रखकर चूसता है: लेकिन किसान-साहूकार तो उसकी जान ही ले लेता है।

इस प्रकार तरह-तरह के उपायों के कारण दस से प्रतिशत आदमियों के पास सत्तर से अस्सी प्रतिशत जमीन हो गई और बचे हुए सत्तर से अस्सी प्रतिशत लोगों के पास सिर्फ बीस से तीस प्रतिशत जमीन रह गई। इन सबके बाद खेती पर ही गुजर-बसर करने वाला कृषि-मजदूरों का वर्ग संख्या में इन दोनों वर्गों से कहीं अधिक बढ़ गया।

एक तरफ से जनसंख्या की वृद्धि और दूसरी तरफ से जमीन का ऐसा असमान बंटवारा, इन दोनों बातों का परिणाम इसके सिवा क्या हो सकता था कि जमीन तथा साधनों के होते हुए भी खेती की उपेक्षा हो, अन्न की

कमी हो तथा भुखमरी और असंतोष बढ़े ? इस तरह स्तब्ध और निस्सहाय होकर सदियों तक मानव दैन्य वहन करके अपने करम पर हाथ रखकर भले ही सहन करता रहा हो, परन्तु उसका यह चुपचाप पड़ा रहना उसी तरह का है कि मानों प्लास्टिक या गटापरचे का सामान पड़ा हो; किसी एक जगह चिनगारी पड़ने की ही देर है, उसके पड़ते ही सारा सामान सुलग उठता है और सब खाक होकर ही रहता है। कम्युनिज्म को एक चिनगारी ही समझना चाहिए। यह आग सुलगने के बाद कोई कानूनी उपाय उसका शमन नहीं कर सकता, उसका शमन तो सत्य को स्वीकार करके स्वयं-प्रेरणा से न्याय करने से ही हो सकता है। भूदान-यज्ञ इस धर्म के प्रति सबको जागृत करने के लिए है। जैसा कि विनोबा कहते हैं, इस यज्ञ के निमित्त से पृथ्वी स्वयं पुकार कर कह रही है कि अब मुझे आजाद होना है। मुट्ठी भर आदमियों के कब्जे में नहीं रहना है। मेरी छाती पर जितने बालक है, उनमें से जितने मेरी सेवा करना चाहते हैं, उन सबका सन्तोष मुझे करना है। यह नया मनु शुरू हो रहा है, जैसा समझो।

रसहीन हुई भूमि, दयाहीन हुआ नृप ।
नहीं तो होता न ऐसा, बोल माता रो पड़ी ।।

परन्तु कलापी * का राजा तो समझदार था। एक इशारे से यह समझ गया कि नीयत बिगाड़ कर धरती माता को रुलाने का परिणाम भूमि की उपेक्षा, और उस उपेक्षा के कारण उसके रस के क्षीण होने में ही होगा। उसने तुरन्त अपनी नीयत दुरुस्त करली। उसने मान लिया कि राजा के लिए भी उसके अधिकारों की मर्यादा है।

सभी जमीन-मालिकों को यह पाठ सीखना चाहिए। जो खेती की ही मिहनत-मशक्कत करते आये हैं, उन्हें यावच्चंद्रदिवाकरौ कोई उज्ज्वल भविष्य दिखाई ही न दे, ऐसी परिस्थिति नहीं ठहर सकती। पिता ईश्वर,

* गुजरात का एक प्रसिद्ध कवि

देवी प्रकृति या माता धरती—इन तीनों में से एक भी उसे सह नहीं सकता। इसलिए अब ये खेत उन पुराने लोगों के हाथों में नहीं रहना चाहते, जो उनकी सुध भी नहीं लेते, लेकिन उपज को हड़प लेते हैं। वे अपने सच्चे सेवकों के हाथ में जाना चाहते हैं। वर्तमान युग का यह आदेश है, ऐसा समझ कर हरेक को उसके अनुकूल हो जाना चाहिए इसी में मानवहित तथा दीर्घदृष्टि है।

इसके लिए छोटी इकाइयां हों या बड़ी इकाइयां हों, कितना बड़ा खेत हो तो वह आर्थिक दृष्टि से लाभदायी हो सकता है इत्यादि की चर्चा में उलझने की जरूरत नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि कोई भी काम समाज में परस्पर सहयोग से ही पूरी तरह कुशलतापूर्वक सफल हो सकता है, परन्तु सहयोग उत्पन्न होने के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की जरूरत होती है। आज की सहयोगी समितियां जितनी सफल होनी चाहिए उतनी नहीं होती। कारण यह है कि जिन लोगों में सहयोग कराया जाता है, उनकी स्थितियां असमान हैं। बड़े-बड़े किसान और छोटे किसान तथा पट्टेदारों के बीच सहयोग कायम करने के प्रयत्न में मलाई तो बड़े-बड़े उड़ा लेते हैं और छोटों को छाछ ही नसीब होती है या वह भी नसीब नहीं होती। सहयोग करनेवालों को एक दूसरों की एक-सी जरूरत मालूम होनी चाहिए और सब के मन में एक-दूसरे के लिए उपयोगी बनने की भावना पैदा होनी चाहिए। जमीन के अत्यन्त विषम बंटवारे में यह संभव नहीं है।

रजिस्टर्ड-फार्म बनाकर या मजदूरी से खेती कराने की दूसरी कोई व्यवस्था कायम करके सब किसानों को बारोजगार बनाने से सहकार उत्पन्न नहीं होता। उलटे इससे वर्ग-विग्रहवाद ही बढ़ेगा। कुदरती संकटों के अलावा असंतुष्ट लोगों के हाथों अन्न के भंडार लुटे और जलाये जाने के दुष्कर्मों का बाजार गरम होगा।

केवल समान स्वार्थ हो जाने से भी सहयोग नहीं होता। समान हित के साथ-साथ सबकी समान प्रतिष्ठा और सबके बीच समान मित्रभावना

तथा सुख-सुविधा का इतना समान बंटवारा हो कि जिससे किसी को दूसरे के प्रति ईर्ष्या न हो—ऐसे विविध अंग होंगे तभी सहकार सफल होगा।

भू-दान इस तरह के सहकार के लिए योग्य मनोभूमिका बनाने वाला यज्ञ-कार्य है। तर्कवादों में उलझ कर हम भुलावे में न पड़ें। निश्चित रूप से कभी-न-कभी जमीन का जो बंटवारा होने ही वाला है, उसे हम ही विवेक से काम लेकर स्वयंप्रेरणा से कर डालें।

—श्री कि० घ० मशरूवाला

———

: भूदान-दर्शन :

आचार्य नरेन्द्रदेव हमारे देश के उन तपोनिष्ठ विचारवान् नेताओं में से हैं, जिनके लिए सभी पक्षों के तथा पक्ष-निरपेक्ष व्यक्तियों के मन में वहुत आदर है। आचार्य नरेन्द्रदेव एक प्रमाणिक तत्वचिन्तक और मनीषी है। वे जब कोई मत प्रकट करते हैं, तो उसका गहरा परिणाम देश के विचार-प्रवर्त्तकों और कृति-प्रेरकों पर हुए विना नहीं रहता।

नरेंद्रदेवजी का मंतव्य

गत ७ जून को पूना में नरेन्द्रदेवजी ने समाचारपत्रों के संवाददाताओं से एक मुलाकात में कहा, "भूदान-आन्दोलन का कुछ मूल्य तो अवश्य है, परन्तु उस आन्दोलन का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि वह अधिक व्यापक नहीं हो सकता। वह हृदय-परिवर्तन पर आधार रखता है। मेरी वर्ग-संघर्ष में निश्चित श्रद्धा है, इसलिए में यह विश्वास नहीं कर सकता कि केवल विनय-अनुनय से हमारा इष्ट सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सिद्ध होगा। यह सच है कि इस आन्दोलन ने भूमिहीनों में आत्मविश्वास और पारस्परिक सौहार्द पैदा किया है; यह भी सच है कि थोड़े-से सम्पन्न जमींदारों ने उदारता से दान दे कर आन्दोलन में सहायता की है। फिर भी हृदय-परिवर्तन जितना गरीबों में दिखाई देता है, उतना अमीरों में नहीं दीख पड़ता। जिस परिस्थिति में और पृष्ठभूमि में भूदान आन्दोलन का उपक्रम हुआ, उसकी तरफ ध्यान देना भी आवश्यक है। जमींदारी उन्मूलन के क़ानून जारी हो गये थे और दूसरी तरफ वगैर मुआवजे की

भूमि का पुनर्वितरण करने के लिए समाजवादी तथा कम्यूनिस्ट पार्टी ने जोरदार मुहिम शुरू कर दी थी, जिससे कि अनुकूल वातावरण वन गया। ऐसी परिस्थिति में भूमि से वंचित होने के बदले, अनिच्छा से ही क्यों न हो उसे दान में दे देना जमीदारों ने अधिक पसंद किया।"

इलाहाबाद की 'अमृत-वाजार पत्रिका' के ८ जून १९५४ के अंक में नरेन्द्रदेवजी की मुलाकात जैसी छपी है, उसी का यथासम्भव प्रामाणिक अनुवाद यहाँ दिया है। यह बिल्कुल संभवनीय है कि मुलाकात पूरी-पूरी न छपी हो, या नरेन्द्रदेवजी के शब्दों में न छपी हो। फिर भी 'पत्रिका' में छपी हुई मुलाकात का जो आशय है, उसका विचार करना जरूरी हो जाता है।

बनारस के 'आज' का अपसिद्धांत

उस मुलाक़ात की समालोचना करते हुए बनारस के 'आज' के ता० ९ जून के अंक में एक वहुत ही विचित्र बात संपादकीय टिप्पणी में लिखी गयी है कि "वे (आचार्य विनोवा भावे तथा सद्धान्तिक गाँधीवादी) यह भी नहीं मानते कि वर्ग-हीन समाज भी कभी अस्तित्व में आ सकता है। वे तो यह मानते हैं कि समाज में विभिन्न प्रकार के वर्ग तो रहेंगे ही, किन्तु इनकी स्वाभाविक स्थिति में संघर्ष के बजाय सहयोग ही अधिक होता है।"

सर्वोदय का मंतव्य

'आज' का यह कथन जितना विचित्र है, उतना ही अपसिद्धान्तात्मक है। यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि गांधी-विचार वर्ग-समन्वय का प्रतिपादन करता है। सर्वोदय समाज के तथा सर्व-सेवा-संघ के उद्देश्य वाक्य में वर्गहीन तथा जातिहीन समाज की स्थापना का स्पष्ट निर्देश समय-समय पर किया गया है। स्पष्ट है कि वर्ग-निराकरण के बिना वर्गहीन समाज की स्थापना कदापि नहीं हो सकती। सर्वोदय ने यह कभी नहीं

माना है कि समाज में आर्थिक विषमता-मूलक वर्ग रहेंगे। हाँ, गुण और शक्ति के अनुसार व्यक्तियों में भेद रहेंगे। लेकिन इन भेदों का परिणाम विषमता में हरगिज नहीं हो सकेगा। विभिन्नता और विविधता एक चीज़ है और 'विषमता तथा विरोध' अलग चीज है। वर्तमान आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए वर्ग-भेद का अन्त क़रना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसलिए हमारे मन में एक बात बिल्कुल साफ रहे कि हम विद्यमान वर्गों को बरकरार रख कर सर्वोदय की स्थापना कतई नहीं कर सकते। हमारा अभीष्ट वर्ग-समन्वय नहीं, अपितु वर्ग-निराकरण है।

मतभेद कहाँ

तब आचार्य नरेन्द्रदेवजी से हमारा मतभेद कहाँ है? आचार्य नरेन्द्र-देवजी ने दो बातें ऐसी कही हैं, जो हमारे गले नहीं उतरती। एक तो उन्होंने यह कहा है कि भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन किसी नये जीवन-दर्शन का प्रवर्तक नहीं है और दूसरी बात यह कही है कि जिसकी वर्ग-संघर्ष में श्रद्धा हो, वह मत-परिवर्तन के द्वारा वस्तु-परिवर्तन में विश्वास नहीं कर सकता। यदि समाचार-पत्रों में नरेन्द्रदेवजी का आशय यथार्थ रूप में छपा है, तो बहुत विनयपूर्वक कहना होगा कि उनका यह कथन भ्रान्ति-मूलक है।

नये दर्शन का अर्थ

आखिर नये जीवन-दर्शन का मतलब क्या है? जो मनुष्य के रुख देखने के तरीके और तबियत को जड़-मूल से बदल देता है, क्या हम उसे जीवन-दर्शन नहीं कहेंगे? समाज में आज दो वर्ग हैं: एक शोषक तथा दूसरा शोषित। लेकिन दोनों में संपत्ति और स्वामित्व का मोह समान-रूप से विद्यमान है। एक सम्पत्ति से सम्पन्न है और दूसरा सम्पत्ति का आकांक्षी है; अर्थात् हैं दोनों संपत्तिवादी ही। जो वैभव-सम्पन्न है, वह अपने वैभव का संरक्षण करना चाहता है। इसलिए वह स्थितिवादी है।

उसका स्वार्थ 'निहित-स्वार्थ' कहलाता है। दूसरा वर्ग, वैभव से वंचित और विपन्न वर्ग है। इसलिए वह वैभवाकांक्षी है। 'वैभव-सम्पन्न' और 'वैभव-आकांक्षी' के मूल-भूत सिद्धांतों में कोई आवश्यक भेद नहीं है। इसलिए वस्तु-परिवर्तन के वाद इन दोनों का जो मत-परिवर्तन होगा वह स्वामित्व और संग्रह की जड़ों को नहीं काट सकेगा। भूदान-यज्ञ आंदोलन वर्ग-निराकरण की एक ऐसी प्रक्रिया है जो विषमता की परिस्थिति में आमूलाग्र परिवर्तन करती हुई संपत्तिवाद के संग्रहवाद की जड़ों को ही काटती है। इसलिए उसमें नये संकेत हैं, नये प्रतीक हैं और नये मंत्र-वाक्य हैं।

मार्क्सवाद और अहिंसा

किसी भी प्रकार के संघर्ष को अनिवार्य मान लेने में विचार-दोष और नास्तिकता है। मनुष्य-मनुष्य का हरेक सम्पर्क संघर्ष में परिणित नहीं होता और न हर एक प्रतिकार मनुष्यों के संघर्ष का रूप लेता है। यदि वर्ग संघर्ष को अनिवार्य और वांछनीय मान भी लें, तो भी भूमिदान-यज्ञ आंदोलन की प्रक्रिया उस संघर्ष का मार्ग प्रशस्त और उन्नत बनाती है। वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया में अगर गरीबों में सौहार्द स्थापित हो जाता है और कुछ अमीर गरीबों के पक्ष में हो जाते हैं, तो संघर्ष सुन्दर होगा या अधिक कठिन होगा? जो लोग वर्ग-संघर्ष में आस्था रखते हैं, उनमें सभी तो हिंसा के कायल नहीं हैं! मार्क्सवाद का हिंसा के साथ कोई अनिवार्य गठबंधन नहीं है। बुराई के प्रतिकार में भी व्यक्तियों का सहयोग होता आया है और हो सकता है।

अहिंसक प्रतिकार

अहिंसा में निषेध प्रतिकार या संघर्ष का नहीं है, निषेध है विद्वेष और प्रत्याघात का। बुद्धिवाद और मतानुनय से यदि पूरी सफलता न मिल सकी, तो अहिंसा में भी एक अवस्था में प्रतिकार पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है। उस समय यदि गरीब-गरीब में सौहार्द और गरीब-अमीर

में एक हद तक पारस्परिक सद्भाव की भूमिका तैयार हो गई हो, तो उसके परिणामस्वरूप जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन होगा, वह मानवीय मूल्यों की स्थापना के सर्वथा अनुकूल होगा। भूमिदान-यज्ञ आंदोलन में जीवन का यह दर्शन छिपा हुआ है।

विधायक और सहयोगात्मक प्रतिकार

भूमिदान-यज्ञ आंदोलन उपयोग और परिग्रह के प्रति एक बिल्कुल नई मनोवृत्ति ग़रीब और अमीर दोनों के हृदय में जागृत करता है। संघर्ष-वाद में दो पक्ष आवश्यक माने जाते हैं। वादी और प्रतिवादी न हो, स्वपक्षी और प्रतिपक्षी न हो, तो संघर्ष के लिए अवसर नहीं रह जाता है। परन्तु रोगी और वैद्य दोनों मिल कर रोग का प्रतिकार कर सकते हैं। वर्ग-निराकरण में मनुष्यों का सहयोग वर्ग-निरपेक्ष भूमिका पर से हो सकता है। इस तरह भूमिदान-यज्ञ आंदोलन आदमियों का रुख, देखने का तरीका और एक-दूसरे के प्रति व्यवहार ही बदल देता है। वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया विधायक पुरुषार्थ की और सहयोगात्मक प्रतिकार की सांस्कृतिक प्रक्रिया में उन्नत हो जाती है।

आशा है, श्रद्धेय आचार्य नरेन्द्रदेव और उनके समकक्ष मनीषी इन विचारों पर ध्यान देंगे।

—श्री दादा धर्माधिकारी

———

: युग-धर्म की पुकार :

वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि इस दुनिया में मनुष्य का जीवन कोई आठ-दस लाख साल से चल रहा है। उसके पहले तो न मालूम क्या था। मानव के पूर्व रूप के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते। लेकिन वैज्ञानिकों का ख्याल है कि आज मानव को जिस रूप में हम पाते हैं, उस रूप में आठ-दस लाख साल से वह काम करता आ रहा है। वैसे तो देह के लिए खाना-पीना इत्यादि जानवरों को जैसे करना पड़ता है, मानव-देह को भी उसकी जरूरत होती है। उसके लिए मानवों को जो प्रयत्न करने पड़ते हैं, दूसरे प्राणियों को भी वे करने पड़ते हैं। मानव अपने-अपने ढंग से ऐसे प्रयत्न सर्वत्र करता ही है। लेकिन मनुष्य का समाधान केवल खाने-पीने से तो नहीं हो सकता। उसे विचारों की भी कुछ न कुछ भूख होती है। आजतक जितने विचार-प्रवाह चले और विचारों में जो सुधार तथा परिवर्तन हुए, उन सबने मनुष्य को प्रेरणा दी है। कुछ न कुछ मौलिक विचार उसे निरन्तर सूझते हैं।

भगवान बुद्ध की विचार-क्रांति

गुजरे हुए जमाने के बाद अभी, करीब दो हजार साल पहले, भगवान् बुद्ध ने पशु-हिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई और लोगों को समझाया कि पशुओं की मदद हम ले सकते हैं, वह लेनी चाहिए और उन्हें जो मदद दे सकते हैं, वह देनी भी चाहिए; परन्तु उनकी हिंसा मनुष्य के लिए शोभा-

दायी नहीं है। वस्तुत: वह कोई बाहरी चीज नहीं। पशु-हिंसा का एक निमित्त था। उसके पीछे तो करुणा का एक विचार था। आस-पास की सृष्टि के साथ कारुण्य-भाव से मनुष्य को व्यवहार करना चाहिए, इस विचार का प्रवर्त्तन वे करना चाहते थे। उसका निमित्त मात्र पशु-हिंसा विरोध था। इससे समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ जिसका परिणाम हिन्दुस्तान पर एक हजार साल तक होता रहा और आज भी हम उस विचार की इज्जत करते हैं। हमारे समाज ने उसको मान लिया है। यद्यपि पशु-हिंसा बिलकुल रुक गई है सो बात नहीं, फिर भी समाज ने उस विचार को ग्रहण कर लिया। इस तरह का क्रांतिकारी परिवर्तन होने के बाद फिर सम्राट् अशोक ने, जिसके राज-चिह्नों का हमने अब उपयोग शुरू किया है, युद्ध के विचार का प्रसार किया। जब हिन्दुस्तान के जीवन में उस विचार को मान्यता मिली, तब उसे राज्यकर्त्ताओं ने ग्रहण किया। फिर वह हिन्दुस्तान के बाहर भी फैला और उसने दूसरे देशों को हिम्मत दी।

जीवन की बुनियाद : विचार

मैंने यह मिसाल इसलिए दी कि मैं समझाना चाहता हूँ कि किस तरह विचार की प्रेरणा मनुष्य को उत्स्फूर्त करती है। मनुष्य का शारीरिक जीवन तो चलता ही है, परन्तु मनुष्य का जो उत्थान होता है, उसके पीछे एक विचार होता है। विचार के कारण आन्दोलन होते हैं। जोश निर्माण होता है और नया जीवन बनता है, तब कहीं समाज-रचना बदलती है। फिर तो जीवन का ढांचा ही बदल जाता है। फ्रांस में राज्य-क्रांति हुई, वह भी एक विचार के कारण। मार्क्सवाद निकला और उसी के विचार पर रूस में एक बात बनी। इस तरह विचार में क्या शक्ति है, उसको हम महसूस करते हैं। मनुष्य को विचार ही ताकत देता है। वह खायेगा-पीयेगा, परन्तु इन सबके साथ, इन सबके पीछे, इन सबकी पूर्त्ति में और इनकी बुनियाद के रूप में एक विचार होता है। उसी को हम धर्म या नीति

कहते हैं। बुनियाद विचार की होती है और उसी पर जीवन की इमारत खड़ी होती है।

विचार को सगुण-साकार रूप देने की जरूरत

मैं अभी जो काम कर रहा हूँ, उसका बाहरी रूप तो जमीन के मसले को हल करने के काम में दीख पड़ता है, परन्तु उसके पीछे एक विचार है जिसके प्रवर्त्तन के लिए मैंने एक बाहरी काम लिया है। बाहरी काम किये बिना विचार निर्गुण और निराकार रहता है। अतः विचार-प्रचार और विचार-प्रकाशन के वास्ते बाह्य काम लेना जरूरी है। इसलिए मैंने हिन्दुस्तान का आज का अहम् सवाल हाथ में लिया और अपने विचार का प्रचार करने के लिए मैं निकला हूँ।

एक का कल्याण दूसरे का अकल्याण नहीं कर सकता

मैंने कई बार कहा है कि भगवान् बुद्ध ने जो धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन चलाया था, उन्हीं के चरण चिह्नों पर चल कर मैं वैसा ही कर रहा हूँ। इस विचार का नाम है सर्वोदय। इसके मानी हैं, एक के भले में सबका भला। किसी एक के हित के विरुद्ध दूसरे का हित हो नहीं सकता। किसी एक जमात, कौम, वर्ग या देश के हित के विरुद्ध भी दूसरी जमात, कौम, वर्ग या देश का हित नहीं हो सकता है। इन सबके हितों में परस्पर विरोध है, यह खयाल ही गलत है। एक के हित में दूसरे का हित ही है। हितों में विरोध हो नहीं सकता। लेकिन अगर हम अहित को ही हित मान लें और अकल्याण में ही कल्याण समझ लें तो तथाकथित हितों में विरोध हो सकता है। मैं अगर बुद्धिमान हूँ, मेरी सेहत अगर सुधरती है, तो उससे आपका भला ही होनेवाला है। मुझे प्यास लगने पर पानी मिलता है, तो उससे मेरा भला होता है और आपका भी भला होता है। अगर हम हितों में विरोध होने की कल्पना करें, तो हित की बात मिथ्या हो जायगी। पड़ोसी को दुखी बनाकर हम सुखी नहीं हो सकते। उससे हमें हजार प्रकार से हानि होने

वाली है। जो दूसरों को लूट कर या तकलीफ देकर सुखी बनना चाहेगा, वह चैन से खाना भी नहीं खा सकेगा। उसी के शरीर में रोग प्रवेश करेंगे और उसे डाक्टरों की शरण लेनी पड़ेगी। घर में पैसा आया कि उसके साथ अशांति आई। खाना उसे पचेगा नहीं। उसे रोग सतायेंगे। जो घर में पैसे लूट कर लाता है और सुख निर्माण करने की कोशिश करता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो पैसा इस तरह बटोर कर घर में लाया जाता है, वह घर को आग लगा देता है। इसलिए मैं यह महान विचार समझाने आया हूँ कि दूसरों के हित में ही अपना हित है।



'दान' शब्द का मूल और सही अर्थ

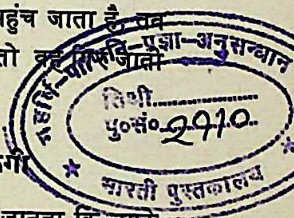
लोग कहते हैं कि मैं गरीबों का मित्र हूँ। मैं उन्हें कहता हूँ कि हां, क्योंकि मैं खुद गरीब हूँ। कुछ लोग मुझ पर इल्जाम लगाते हैं कि मैं श्रीमानों को बचाने वाला हूँ। मैं उनको भी कहता हूँ कि जी हां, परन्तु मैं उनको चाहे जिस तरह से नहीं बचानेवाला हूँ। मैं तो सही तरीके से ही उन्हें बचाने वाला हूँ। मैं जिस धर्म की दीक्षा दे रहा हूँ, उसमें यह विचार है कि हमारे घर में हम जितने लोग दिखाई पड़ते हैं, वे उतने ही नहीं हैं, बल्कि उनमें और भी एक है, जिसका नाम है, दरिद्रनारायण। मैं उसी का हिस्सा मांगता हूँ। मैं न श्रीमानों को घमंडी, न गरीबों को दीन बनाना चाहता हूँ। बल्कि एक धर्म-विचार समझाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि देनेवाला और लेनेवाला, दोनों इस धर्म-विचार को समझें। देनेवाला समझे कि मांगने वाले ने मुझ पर उपकार किया है और मोह से छुड़ाने का, उससे मुक्त होने का मुझे मौका दिया है। ऐसा सोचकर जमीन देने से ही मैं वह लेता हूँ। जो ऐसा नहीं देते हैं, उनके दान का मैं त्याग करता हूँ। इसलिए मैंने दान-पत्रों के साथ कुछ त्याग-पत्र भी लिए हैं। मैं शास्त्रों के शब्दों का अर्थ शास्त्र-कारों से ही समझता हूँ। लेकिन दुनिया में यह धंधा चलता रहता है कि अच्छे अच्छे शब्दों को बिगाड़ा जाता है। संन्यास, दान, वैराग्य इत्यादि अच्छे-अच्छे शब्दों को दुनिया ने बिगाड़ दिया। इस-

लिए मैंने 'दान' शब्द की शंकराचार्य की व्याख्या चलाई है। निरभिमान होकर दान देना चाहिये और कर्त्तव्य-भावना से देना चाहिए।

राज्य-क्रांति की बुनियाद : विचार-प्रवर्त्तन

लोग पूछते हैं कि वह काम तो सरकार के जरिये हो सकता है, फिर आप उससे क्यों नहीं यह करवाते? मैं कहता हूँ कि भाइयों, आपने ही सरकार चुनी है और मैंने तो ऐसा करने से सरकार के हाथ रोके नहीं हैं? सरकार को तो अपना कर्त्तव्य करना ही है पर क्रांतिकारी विचार को फैलाने का काम सरकार नहीं कर सकती। जब विचार लोकमान्य होगा तभी सरकार यह काम करेगी और उसको यह करना होगा। अगर वह ऐसा नहीं करेगी तो बदल जायगी। जहाँ लोक-सत्ता चलती है, वहां सरकार नौकर होती है। अगर आपको कोई बात समझानी हो, तो आप वह नौकर को समझाते हैं या उसके मालिक को? मालिक को समझाने पर अगर उसको बात जँच गई, तो वह अपने मुनीम को हुक्म देगा कि दान-पत्र तैयार करो। इसलिए मैं मालिक को याने आपको समझा रहा हूँ। मालिक आप हैं। मेरा विचार अगर आपको जंचेगा तो आप अपने नौकर से काम लेंगे। अगर वह काम नहीं करेगा तो आप उसे हटा देंगे और तब दूसरा नौकर आयेगा। इस तरह की उथलपुथल तो होनेवाली ही है। लेकिन लोक-सत्ता में सरकार को शून्य कहा जाता है और शून्य की अपनी कोई कीमत नहीं होती। अगर वह एक के आंकड़े पर चढ़ गया तो दस हो जाता है, दो पर चढ़ा तो बीस और तीन पर चढ़ा तो तीस, परन्तु दस-बीस-तीस बनाने की शक्ति शून्य में नहीं है। आप ही उस शून्य को दस-बीस बना सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से उस शून्य की कोई कीमत नहीं। उसी तरह लोक-सत्ता में लोग ही सब कुछ है और सरकार कुछ भी नहीं है। जो सरकार के जरिये काम करने की बात करते हैं, वे जानते ही नहीं कि विचार-प्रवर्त्तन कैसे होता है। बुद्ध भगवान ने लात मारकर राज्य तज दिया और ज्ञान प्राप्ति के बाद उन्होंने पहली दीक्षा एक राजा को, याने अपने पिता को

दी। फिर सम्राट् अशोक आये और उसके बाद हिन्दुस्तान में एक राज्य-क्रांति हुई। जिन राजाओं ने उस विचार को नहीं माना, वे गिर पड़े। जो लोग खुद को कम्युनिस्ट कहते हैं, उनसे मैं पूछना चाहता हूं कि मार्क्स के हाथ में कौनसी राज-सत्ता थी? केवल उसके विचारों से ही तो क्रांति हुई। विचार का बीज जब लोक-हृदय की गहराई में पहुंच जाता है, तब सरकार उसपर अमल करती ही है और अगर न करे तो वह मिट जाती है। अतः भाइयों, विचार-प्रवर्त्तन का महत्व समझो।



सरकार लोकेच्छा के कारण ही टिकेगी

आजकल हर कोई फल चाहता है पर वह यह नहीं जानता कि उसके लिए बोना भी पड़ता है। बिना बोये फल पावोगे कैसे? फ्रांस में राज्य-क्रांति हुई तो उसके पीछे रूसो और वाल्टेयर के विचार थे। मार्क्स ने एक विचार का प्रचार किया और फिर लेनिन ने उस विचार के आधार पर क्रांति की। विचार-प्रचार के बाद ही राज्य-क्रांति होती है। मेरा विश्वास है कि आज की हमारी सरकार इतनी विचार-हीन नहीं है कि अगर समाज में किसी अच्छे विचार को लोग पसन्द करते हैं, तो भी उसपर वह अमल न करे। अगर वह अमल नहीं करती है, तो वह टिकनेवाली भी नहीं है और ऐसा होगा तो मुझे कोई दुःख भी नहीं होगा। हाँ, इतना तो लगेगा कि वे गांधीजी के शिष्य थे और फिर भी विचार को समझ नहीं सके, परिणामस्वरूप उन्हें राज्य छोड़ना पड़ा। और तब यह बड़े खेद की बात होगी। लेकिन मैं तो आपको यही समझाना चाहता हूँ कि मालिक अगर चाहे तो अपने नौकर को बदल सकता है।

या तो दुनिया के हाथ की मिट्टी बनो, या दुनिया को आकार दो

मैं गरीब-श्रीमान् सबका मित्र हूँ। मेरा काम सबके हित के लिए है। भूमि का मसला हल हुए बगैर हिन्दुस्तान का समाधान हरगिज नहीं

होगा, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। अगर किसी के मन में संदेह है तो मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि उसको न परिस्थिति का ज्ञान है, न भान। मैं तो तीस साल से देहात में काम कर रहा हूं। देहात की परिस्थिति को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मैंने दुनिया के इतिहास का भी अध्ययन किया है। इसलिए यह मैं जानता हूं कि देश के बीच दीवारें नहीं खड़ी हो सकती। इस देश से उस देश में विचार आते-जाते रहते हैं। यहां हमने अच्छा विचार नहीं चलाया तो बाहर के बुरे विचार यहां के मसले हल करने के लिए आयँगे और अगर हमने यहां के मसले अपने ढंग से हल किये तो यहाँ का विचार भी यहीं पर नहीं रुक सकता, वह बाहर जानेवाला ही है और दुनिया भी उसको माननेवाली है। इधर-से-उधर विचार आते-जाते रहते हैं। ऐसा भी विज्ञान शायद निकल सकता है कि उसके द्वारा इधर की वायु उधर जाने से रोकी जा सके। परन्तु विचार को तो कोई भी नहीं रोक सकता। इसलिए या तो हम दुनिया को आकार देनेवाले हैं, या दुनिया हमको आकार देनेवाली है। दो ही मार्ग आपके सामने हैं। तीसरा है ही नहीं। या तो आप अपने विचारों की बुनियाद पर दुनिया को आकार देने की हिम्मत करो या दुनिया के हाथ की मिट्टी बनो। फिर दुनिया जो आकार आपको देगी उसे आपको कुबूल करना होगा। इसलिए हम या तो एक नया स्वतन्त्र विचार निर्माण करेंगे, जो दुनिया को आकार देगा, या फिर दुनिया हमको आकार देगी !

—सन्त विनोबा भावे

———


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
दिनांक
पु०सं० 2910
शास्त्री पुस्तकालय

